जलवायु स्मार्ट कृषि द्वारा खाद्यान्न एवं पोषण सुरक्षा

क्षमता विकास प्रशिक्षण
16–18 फरवरी 2017

भाकृअनुप
ICAR

भा.कृ.अनु.प.-भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान
करनाल–132 001, हरियाणा

जलवायु स्मार्ट कृषि द्वारा खाद्यान्न एवं पोषण सुरक्षा

क्षमता विकास प्रशिक्षण
16–18 फरवरी 2017

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान
करनाल–132 001, हरियाणा

सही उद्धरणः अनुज कुमार, सत्यवीर सिंह, पूनम जसरोटिया, अंकिता झा, अनिल खिप्पल, प्रियंका चंद्रा एवं सेंधिल आर. (2017). जलवायु स्मार्ट कृषि द्वारा स्वास्थ्य एवं पोषण सुरक्षा, प्रशिक्षण पुस्तिका, भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001, हरियाणा पृष्ठ : 118

समन्वयकः डॉ. सेंधिल आर
डॉ. अनुज कुमार
डॉ. सत्यवीर सिंह
डॉ. अंकिता झा

वित्त पोषितः भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली–110012

आवश्यक टिप्पणीः इस अंक में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्तविचार/आंकड़ें आदि के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं।

प्रकाशकः ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह
निदेशक, भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान,
करनाल–132001, हरियाणा
दूरभाषः 0184–2267490 फैक्सः 0184–2267390
बेवसाईटः www.dwr.in
टोल फ्री नम्बरः 1800 180 1891

मुद्रितः वेंचर ग्राफिक्स
सेक्टर–6, मेन मार्केट, करनाल
दूरभाषः 9729133110, 0184–4046178

प्राक्कथन

भारत कई कृषि पदार्थों का मुख्य उत्पादक देश होने के बावजूद भी खाद्य व पोषण सुरक्षा की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। विकासशील देशों में 200 मिलियन से अधिक लोग कुपोषण का शिकार होते हैं। स्थायी खाद्यान्न उत्पादन, आपूर्ति और पोषण अंतराल क्रमिक उन्मूलन किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक शर्तें हैं। इसलिए खाद्य व पोषण सुरक्षित राष्ट्र निर्माण की दिशा में कई चुनौतियाँ जैसे–जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभाव जो एक मुख्य समस्या बनता जा रहा है के बावजूद कृषि उत्पादकता में सुधार लाने पर टिकी हुई है। एक अनुमान के अनुसार 2050 तक खाद्यान्न की मांग को पुरा करने के लिए कृषि उत्पादन में 60 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी करनी होगी। बदलती जलवायु तथा बढ़ती जनसंख्या इस कार्य को और मुश्किल बना देगी। खाद्य सुरक्षा व कृषि विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जलवायु परिवर्तन के विरूद्ध रणनीतियाँ बनाकर इससे निपटना आवश्यक हो जाएगा। यह परिवर्तन प्राकृतिक संसाधन को बिना नुकसान पहुँचाए जलवायु स्मार्ट कृषि की पहल द्वारा पूरा किया जा सकता है। जलवायु स्मार्ट कृषि सयुंक्त रूप से सतत कृषि विकास के तीनों आयामों (आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरण) द्वारा जलवायु परिवर्तन व खाद्य सुरक्षा की चुनौतियाँ का समाधान करेगी। जलवायु स्मार्ट कृषि मुख्य तीनों स्तम्भों में सतत कृषि उत्पादन में वृद्धि तथा आय में वृद्धि, जलवायु परिवर्तन के प्रति रणनीतियों का निर्धारण तथा ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करना या संभव हो तो उन्हें हटाना से शामिल हैं। यह तकनीकी, नीति और निवेश के तहत खाद्य और पोषण सुरक्षा के लिए टिकाऊ कृषि विकास को प्राप्त करने का एक समग्र दृष्टिकोण है।

मैं यह जानकर खुश हूँ कि भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल के सामाजिक विज्ञान अनुभाग ने किसानों के लिए तीन दिवसीय 16–18 फरवरी, 2017 प्रशिक्षण कार्यक्रम "जलवायु स्मार्ट कृषि" द्वारा खाद्य एवं पोषण सुरक्षा बढ़ाने के लिए भा.कृ.अनु.प. में बाह्य परियोजना के तहत आयोजित कर रहा है। यह प्रशिक्षण कार्यक्रम निश्चित रूप से जलवायु स्मार्ट कृषि के तरीकों और कृषि विकास में इसके महत्त्व के बारे में ज्ञान को अद्यतन करने के लिए प्रतिभागियों के लिए एक उत्कृष्ट अवसर प्रदान करेगा।

मैं प्रशिक्षण कार्यक्रम समन्वयक, आयोजन समिति के सदस्यों और विषय विशेषज्ञों को उनके इस सराहनीय कार्य तथा उनके नेतृत्व और उनके अनुभव को किसानों के साथ सांझा करने के लिए बधाई देता हूँ।

मैं सभी प्रतिभागियों का संस्थान में स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि यह प्रशिक्षण कार्यक्रम आपके लिए बहुत महत्त्व और आपके व्यवहारिक ज्ञान की उपयोगिता का हो जाए।

अतः मैं सभी का तहे दिल से धन्यवाद करता हूँ और प्रशिक्षण कार्यक्रम में सफलता की कामना करता हूँ।

जी.पी. सिंह
निदेशक
भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान
करनाल–132001

विषय सूची

गेहूँ उत्पादन पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव और भारत में खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए रणनीतियाँ 1
ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह, रविश चतरथ, सतीश कुमार एवं सेंधिल आर.

जलवायु स्मार्ट खेती आज की आवश्यकता 5
अनुज कुमार, सेंधिल आर., सत्यवीर सिंह, अनिता मीणा एवं जे. के. पाण्डेय

स्मार्ट कृषि और जलवायु स्मार्ट फसलें : पोषण सुरक्षा की पूरक 10
संगीता वी., प्रेमलता सिंह, प्रतिभा जोशी, सत्यप्रिय, वेंकटेश पी. एवं लेनिन वी

बदलते जलवायु का कीटों पर प्रभाव 15
पूनम जसरोटिया, सुभाष कटारे, प्रियंका चंद्रा, पी. एल. कश्यप, सुधीर कुमार एवं डी. पी. सिंह

बदलते जलवायु परिवेश में पशुपालन 18
डा. सोहनवीर सिंह एवं योगेन्द्र कुमार

गाय/भैंसों के उत्पादन पर गर्मी का प्रभाव एवं पशुपालन व्यवसाय को सफल बनाने हेतु मुख्य बातें 21
बी. एस. मीणा

सोलेनेसी वर्गीय सब्जियों में लगने वाले प्रमुख कीटों का एकीकृत प्रबन्धन 31
सुजय पाण्डेय एवं बी. के. दूबे

बदलते जलवायु परिवेश में गेहूँ के बीज उत्पादन की उन्नत तकनीक 35
अमित कुमार शर्मा, संजय कुमार सिंह, अनिल खिप्पल, लोकेन्द्र कुमार एवं राजकुमार

लवणग्रस्त मृदाओं में सतत उत्पादन के लिए सुधार एवं फसल प्रबंधन 39
आर. के. यादव

भारत में धान–गेहूँ फसल की उत्पादकता एवं लाभप्रदत्ता की क्षमता हेतु फसल सघनीकरण ही कुंजी 55
एस. सी. त्रिपाठी, सुभाष चन्द्र एवं राजपाल मीणा

लाभदायक एवं टिकाऊ सब्जी उत्पादन हेतु संरक्षित खेती विधियाँ 61
सुरेश चंद राणा

सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली : जल उपयोग दक्षता बढ़ाने हेतु उन्नत सिंचाई प्रणाली 62
राजपाल मीना, अंकिता झा, कैलाश प्रजापत, राहुल कुमार, अनुज कुमार, ममता काजला एवं आर. के. शर्मा

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में सौर ऊर्जा की उपयोगिता 67
प्रियंका चंद्रा, सुभाष कटारे, पूनम जसरोटिया, सुधीर कुमार, वनिता पाण्डेय, पारुल सुन्धा एवं डी.पी. सिंह

जलवायु दक्ष गाँवों का विकास एवं प्रसार 70
सत्यवीर सिंह, सेंधिल आर., अनुज कुमार एवं अनिता मीणा

वर्तमान परिदृश्य में भारतवर्ष की देशज पशुधन विविधता एवं उनका संरक्षण 74
अविनाश सिंह, सोनिका अहलावत, रेखा शर्मा एवं मधु सुदन टांटिया

जलवायु परिवर्तन का फसलों तथा पशुओं पर पड़ने वाले प्रभाव 78
सुनील कुमार, सेन्धिल आर., अनुज कुमार, सत्यवीर सिंह एवं अंकित कुमार

संसाधन पुनरावृतिकरणः अपशिष्ट से मुनाफा 80
पारुल सुन्धा, निर्मलेंदु बसाक, प्रियंका चंद्रा एवं अरविन्द कुमार राय

कृषि अवशेषों का प्रबंधन 83
प्रिया शर्मा, दर्शना महिड्डा एवं अकांक्षा टमटा

बदलते जलवायु परिवेश में गन्ने में अन्तः फसलीकरण क्यों व कैसे? 86
अनिल खिप्पल, संजीव कुमारी, अमित कुमार शर्मा एवं सत्यवीर सिंह

भारतीय पशुधन संसाधन के प्रबंधन एवं आनुवंशिक उन्नति के वर्तमान राष्ट्रीय कार्यक्रम : एक अवलोकन 90
अविनाश सिंह, सोनिका अहलावत, रेखा शर्मा एवं मधुसूदन टांटिया

बदलते जलवायु परिवेश में कृषि की चुनौतियाँ 95
रिंकी, वनिता पाण्डेय एवं अनिल खिप्पल

जलवायु परिवर्तन का कृषि पर प्रभाव : एक अवलोकन 97
राजेन्द्र कुमार, पंकज कुमार सिंह एवं जे. के. पाण्डेय

जलवायु परिवर्तन एवं गेहूँ के स्पॉट ब्लॉच रोग 100
पंकज कुमार सिंह, साहिल परुथी, महेन्द्र कुमार आर्य एवं डी. पी. सिंह

बदलती जलवायु में कृषि करना हुआ मुश्किल 103
साहिल परूथी, महेन्द्र कुमार आर्य, पंकज कुमार सिंह एवं डॉ. डी. पी. सिंह

सरक्षंण खेती में मल्चिंग का महत्त्व 106
अंकित कुमार, सुनील कुमार, दीपक एवं सेंधिल आर.

बदलते जलवायु में गेहूँ के पोषण प्रबंधन की समस्याएँ एवं समाधान 108
सुभाष चन्द्र गिल, राजेन्द्र छोकर, राजपाल मीणा, एस. सी. त्रिपाठी, कैलाश प्रजापत, ममता काजला, विकास जून एवं आर. के. शर्मा

बदलते पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में गन्ना कीट प्रबंधन 112
एस. के. पाण्डेय एवं प्रवीण कुमार

गेहूँ उत्पादन पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव और भारत में खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए रणनीतियाँ

ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह, रविश चतरथ, सतीश कुमार एवं सेंथिल आर.
भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

प्रस्तावना

जलवायु परिवर्तन सबसे गंभीर घटनाओं में से एक संभावित खाद्य उत्पादन और आपूर्ति को प्रभावित करने का कारक है। यह कृषि सहित सभी पारिस्थिक तंत्र के लिए खतरा भी है। 1950 के बाद ग्लोबल वार्मिंग स्पष्टतः, औसत तापमान में वृद्धि, समुद्र स्तर एवं ग्रीन हाउस गैसों की सांद्रता में वृद्धि और बर्फ की मात्रा में कमी के रूप में दिखाई देती है। इसके अलावा ठंड के दिनों और रातों की संख्या में कमी की संभावना और अधिक गर्म दिन और रात की संख्या में वृद्धि विश्व स्तर पर हुई है। जलवायु प्रणाली में परिवर्तन के कारण एशिया में भारी वर्षा एवं गरम तरंगों की आवृति में वृद्धि हुई है। (आई पी सी सी, 2013), विकसित अर्थव्यवस्थाओं एवं अत्यधिक गरीबी वाले क्षेत्रों में उनके अपने भूगोल एवं मानसून निर्भरता के कारण जलवायु परिवर्तन के प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट एवं संवेदनशील है।

कम कृषि आय एवं खेती योग्य स्थान होने के कारण भारत जैसे कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाले देश के जलवायु परिवर्तन के कारण प्रभावित होने की सम्भावना अधिक है। भारत में लाखों किसानों के लिए कृषि आजीविका का मुख्य स्रोत है। जलवायु परिवर्तन कृषि उत्पादन एवं किसानों के कल्याण के लिए गंभीर चिंता का विषय बन गया है। जलवायु परिवर्तन के नकारात्मक प्रभावों जैसे उपज संवेदनशीलता के परिणाम को रोकना शोधकर्ताओं और नीति निर्माताओं की सर्वोच्च प्राथमिकता बन गई है। कृषि देश के सकल घरेलू उत्पाद का एक महत्त्वपूर्ण योगदान होने के कारण जलवायु में परिवर्तन देश की खाद्य सुरक्षा से जुड़ा हुआ माना जा रहा है। मौसम में उतार–चढ़ाव का प्रभाव सबसे ज्यादा फसल के विकास चरण के दौरान होता है जिसका प्रभाव उपज पर दिखाई देता है। पंरतु जलवायु परिवर्तन के कारण फसल फिनोलोजी में कई तरह के बदलाव के अनुमान हैं जो कि उपज गिरावट को बढ़ावा देंगे। फसल के विकास चरण के दौरान तापमान में वृद्धि फसल विकास दर को बढ़ा देता है। पौधों का उपज लाभ वातावरण में कार्बन डाई–ऑक्साईड की वृद्धि के कारण मिलता है। किंतु फसल के विकास के अंतिम चरण में तापमान वृद्धि उनके उपज में हानि पहुँचाती है। हालांकि शुष्क क्षेत्रों में उच्च वर्षा फसल के अधिक पैदावार का कारण भी हो सकती है। मौसम परिवर्तन का प्रभाव अलग अलग क्षेत्रों में भिन्न हो सकता है। यह उनके भौगोलिक आधार पर सकारात्मक या नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है। कुल मिलाकर जलवायु परिवर्तन संबंधित परियोजनाओं के रिपोर्टों के अनुसार फसलों में वाष्पोत्सर्जन की वृद्धि अनियमित बारिश एवं सुखे में वृद्धि के समानुपाती होती है। तेज हवा गति एवं भारी वर्षा जो कि उष्णकटिबंधिय क्षेत्रों में चक्रवात लाती है। इससे फसल विकास हतोत्साहित होता है एवं फसल विकास रोकने वाले कारकों जैसे कीट रोग एवं खरपतवार के वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। कृषि उत्पादन एवं वर्षा में वृद्धि के बीच परस्पर सहसंबंध है किंतु वर्षा होने के पैटर्न में परिवर्तन से प्रमुख फसलों के नुकसान की संभावना बढ़ जायेगी। वर्षा में अंतर वार्षिक एवं दीर्घकालिक परिवर्तन पर अध्ययन ने भविष्य में महत्त्वपूर्ण बदलाव का संकेत दिया है। आई पी सी सी ने वर्ष 2020 तक भारत में 0.5 से 1.2 डिग्री से0 तक तापमान वृद्धि का पूर्वानूमान दिया है। जो कि 2050 में 0.88 डिग्री से0 3.16 डिग्री से0 हो सकता है। और 2080 तक यह 1.56 से 5.44 डिग्री से0 तक बढ़ सकता है। रबी के फसल (नवम्बर से अप्रैल) के दौरान तापमान में अत्यधिक वृद्धि होती है जो कि गेहूँ की फसल का समय होता है। जबकि इसका प्रभाव खरीफ की फसल (जून से अक्तूबर) के दौरान अपेक्षाकृत कम होता है। 21 वीं सदी के अंत तक औसत वार्षिक तापमान में वृद्धि 3–5 से0 तक होगी जिसका अधिकतम प्रभाव उत्तर

भारत के क्षेत्रों जिसकी प्रमुख खेती गेहूँ है उन पर पड़ने की उम्मीद है। अत्यधिक जलवायु परिवर्तन खेतों में खड़े गेहूँ के फिनोलोजी को नुकसान पहुँचाकर गेहूँ के उत्पादन एवं आपूर्ति को प्रभावित करता है। जलवायु परिवर्तन के कारण भूजल स्तर में भी कमी होगी जिसके परिणामस्वरूप पानी की दूसरी दुर्लभ प्राकृतिक संसाधनों के गलत इस्तेमाल में वृद्धि होगी।

चिंता का विषय यह है कि अगर सुधारात्मक उपाय नहीं किये गये तो भारत जो कि गेहूँ उत्पादन में एक आत्म निर्भर राष्ट्र है, एक खाद्य असुरक्षित देश में बदल सकता है। यह लेख जलवायु परिवर्तन एवं इसके गेहूँ के उत्पादन पर प्रभाव का प्रबंधन करने की क्षमता का अनुकूल रणनीतियों पर प्रकाश डालता है।

गेहूँ एक ठंडे मौसम का पौधा है जो मध्य नवम्बर के दौरान लगभग 30 लाख हैक्टर में बोया जाता है। जिसका 90 प्रतिशत हिस्सा सिंचित है एवं इसकी कटाई मार्च–अप्रैल में होती है। भारत विश्व में चीन के बाद दूसरा सबसे ज्यादा गेहूँ का उत्पादन करता है। और 2014–15 में मौसम विसंगतियों की वजह से कम हुए उत्पादन के अपवाद को छोड़ दिया जाए तो पिछले 5 वर्षों से लगातार 90 लाख टन गेहूँ का उत्पादन किया गया है। 2014–15 के रबी सीजन में अप्रत्याशित ओलावृष्टि, अनिश्चित बेमौसम बरसात की वजह से 9.32 लाख टन उत्पादन में कमी आई। किन्तु 2015–16 में अनुकूल मौसम के कारण गेहूँ उत्पादन पुनर्जीवित हुआ और 93.5 लाख टन उत्पादन हुआ। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ की उत्पादकता 30 कुंतल/हैक्टर है एवं यह विभिन्न राज्यों में अलग है। जैसे पंजाब व हरियाणा की उत्पादकता 45 कुंतल/हैक्टर है जबकि कर्नाटक में औसत उत्पादकता 10 कुंतल/हैक्टर है। भारत वर्ष में गेहूँ की खेती छह कृषि जलवायु क्षेत्रों में की जा रही है। उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र के 12.66 लाख हैक्टर भूमि पर गेहूँ की खेती होती है। उत्तर पहाड़ी क्षेत्र में हिमालय की अलग अलग घाटियों में लगभग एक लाख हैक्टर में गेहूँ की खेती होती है। ठंडे और आर्द्र उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में लगभग 9.12 लाख हैक्टर में गेहूँ की खेती होती है। मध्य क्षेत्र और प्रायद्विपीय जहां अपेक्षाकृत कम ठंड एवं ज्यादा गर्मी है वहाँ क्रमशः 7.18 लाख एवं 1.10 लाख हैक्टर भूमि पर गेहूँ की खेती की जाती है। दूसरे क्षेत्रों की तुलना में दक्षिणी पहाड़ी क्षेत्र में बहुत ही कम 0.01 लाख हैक्टर भूमि पर गेहूँ की खेती की जाती है। गेहूँ के क्षेत्र के जलवायु में बहुत अधिक विभिन्नता होने की वजह से बदलते जलवायु परिदृश्य के कारण उपज संवेदनशीलता और बढ़ जाती है। गेहूँ के पौधे के विकास के विभिन्न चरणों पर बदलते जलवायु को भिन्न–भिन्न प्रभाव होता है। इसका उत्पादन पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है। सामान्यतः जब सतह हवा का तापमान बढ़ जाता है तब फसल के अतिरिक्त उपज के लिए पूरक सिंचाई की आवश्यकता होती है। भारी बारिश से फसल को पूरी तरह नुकसान हो जाता है इसलिए फसल अधिक तापमान और अनियमित वर्षा से अधिक संवेदनशील होता है। मध्य क्षेत्र और प्रायद्विपीय जैसे पानी की कमी वाले क्षेत्रों में सुखे की स्थिति से निपटने और उपज में सुधार के लिए उच्च जल धारण क्षमता वाले मिट्टी में गेहूँ की फसल करने की सलाह दी जाती है। जलवायु परिवर्तन औसत तापमान में वृद्धि से स्पष्ट होती है जिससे हर क्षेत्र में फसल विकास अवधि कम हो जाती है। ऐसे वक्त हमें अधिक उपज के लिए गेहूँ की बुआई के तारीख में परिवर्तन एवं उचित प्रजाति का प्रयोग करना चाहिए। जलवायु परिवर्तन फसल–चक्र के अन्तराल की अवधि को भी कम कर सकता है। इसलिए गेहूँ की उचित फसलों एवं उनकी किस्मों, बुआई की तारीख एवं संतुलित प्रबंधन की सिफारिश की जाती है। गेहूँ उपज क्षेत्रों में मौसम परिदृश्यः तापमान जलवायु का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। जो फसल विकास के विभिन्न चरणों को प्रभावित कर उपज को प्रभावित करता है। उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में न्युनतम एवं अधिकतम तापमान 14.3 डिग्री से0 एवं 29.6 डिग्री से0 होता है जबकि दाने बनने की अवस्था में उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में यह 17.4 से 32.5 डिग्री से0 तक होता है। औसत अधिकतम तापमान उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र में 30 डिग्री से0 से कम प्रायद्विपीय क्षेत्र में 30 डिग्री से0 से अधिक एवं उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 30 डिग्री से0 के करीब होता है। औसत न्यूनतम तापमान प्रायद्विपीय क्षेत्र में अधिक होता है जो कि 17.9 डिग्री से0 है।

उसके बाद उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 17.4 डिग्री से0 और उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र व उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में यह 15 डिग्री से0 से भी कम होता है। 2014–15 के मौसम के आंकड़ों के अपेक्षा फसल विकास के दौरान सभी क्षेत्रों का औसत न्यूनतम एवं अधिकतम तापमान बढ़ गया था। औसत अधिकतम तापमान उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 10 से0, प्रायद्विपीय क्षेत्र में 8.1 डिग्री से0, उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 7.0 डिग्री से0 एवं मध्य क्षेत्र में 2.7 डिग्री से0 बढ़ा तथा औसत न्यूनतम तापमान उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 4.2 डिग्री से0, उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में 3 डिग्री से0, प्रायद्विपीय क्षेत्र में 2.7 डिग्री से0 एवं मध्य क्षेत्र में 1.8 डिग्री से0 वृद्धि हुई। वर्षा, अनाज की उपज पर अलग अलग क्षेत्रों में भिन्न प्रकार का योगदान करता है। भारत में गेहूँ की पैदावार पर जलवायु परिवर्तन से प्रभावित होने का अनुमान है। गेहूँ उगाए जाने वाले अलग–अलग क्षेत्र बदलते जलवायु कारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनमें गेहूँ की उपज घटने का अनुमान है। उत्तर पश्चिमी मैदानी इलाका गेहूँ का प्रमुख उत्पादक क्षेत्र है। और तापमान तथा वर्षा दोनों से प्रभावित होता है। इस क्षेत्र में गेहूँ की फसल प्रारंभिक और अंतस्थ ताप के तनाव से प्रभावित होती है। दाना विकसित होने वाली अवस्था में गर्मी का तनाव इस क्षेत्र में गेहूँ की पैदावार को गंभीर नुकसान पहुँचाता है। वर्षा में बदलाव भी गेहूँ के उत्पादन को प्रभावित करते हैं। धारीदार रतुआ के महामारी के रूप में फैलने से उपज में 100 प्रतिशत गिरावट आ सकती है। उत्तर पूर्वी मैदानी इलाका गेहूँ उत्पादन का दूसरा सबसे बड़ा क्षेत्र है और वर्षा पर आधारित है। यह क्षेत्र फसल विकास के दौरान मुख्यतः पर्ण रतुआ, पर्ण झुलसा और ताप से प्रभावित होता है। इसी तरह मध्य क्षेत्र और प्रायद्विपीय क्षेत्र वर्षा आधारित होता है और यहाँ पर गेहूँ की फसल पूरे मौसम में गर्मी तनाव से प्रभावित होती है। तना रतुआ इस क्षेत्र में एक बड़ा खतरा है। इसके अलावा फसल अवधि भी एक प्रमुख कारक है। मध्य क्षेत्र और प्रायद्विपीय क्षेत्र में विकास अवधि में कमी से गेहूँ की पैदावार में कमी हो जायेगी। हालांकि इन सभी कारकों और दुनिया भर में जलवायु परिवर्तन के प्रभाव के बावजूद भारतीय गेहूँ उत्पादन लगातार पिछले 4–5 वर्षों से बढोत्तरी पर है। गेहूँ पैदावार में लगातार वृद्धि के लिए प्रबंध के तरीकों जैसे रोगों और कीटों पर समय पर नियंत्रण और मौसमी कारकों में मामूली परिवर्तन को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। फसल के किसी भी पड़ाव पर तापमान और वर्षा का होना पैदावार को घटा या बढ़ा सकता है। उदाहरण के लिए अगर टिलरिंग (कल्ले फुटना) अवस्था में तापमान बढ़ता है तो पुष्पन समय से पहले हो जाएगा लेकिन अनाज बनने के दौरान घटा हुआ तापमान फसल की परिपक्वता अवधि को घटाने में सहायक होगा जिसके परिणामस्वरूप फसल की पैदावार में बढ़ोत्तरी होगी। वैश्विक औसत तापमान की तुलना में भारत का औसत तापमान अधिक होने की संभावना है और इसके लक्षण भी दिखाई देने लगे है। हाल ही में औसत तापमान में हुए परिवर्तन का असर गेहूँ पर भी दिखाई देने लगा है। पिछले लगातार तीन वर्षों से नवम्बर और दिसम्बर माह के दौरान औसत तापमान में उतार चढ़ाव रहा है। जिसका फसल उत्पादन में भी उतार–चढ़ाव देखा गया है। इसी तरह से वर्षा में अनियमितता देखी गई है जिससे उत्पादन को खतरा हो सकता है। जबकि कुछ क्षेत्रों में वर्षा का सकारात्मक प्रभाव भी देखा गया है परंतु अत्यधिक वर्षा के कारण फसल गिर जाती है और उत्पादन प्रभावित होता है। तापमान में 1 डिग्री से0, 2 डिग्री से0 और 3 डिग्री से0 तक तापमान में वृद्धि पंजाब में गेहूँ उत्पादन में क्रमशः 5.4 प्रतिशत, 7.4 प्रतिशत और 25.1 प्रतिशत की गिरावट के लिए जिम्मेदार होती है। पिछले 100 साल के वर्षा के आंकड़े कोई महत्त्वपूर्ण प्रवृति नहीं दर्शाते।

तापमान, वर्षा, कार्बन डाई–ऑक्साईड, मीथेन और ओजोन की सान्द्रता संभवतः फसल के विकास को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है। पिछले दो–तीन वर्षों से मध्य भारत में गेहूँ की फसल के दौरान अच्छी बारिश हो रही है जिसके कारण गेहूँ की पैदावार में बढ़ोत्तरी हुई है और यह अप्रत्याशित बदलाव होने से उचित प्रबंधन और अनुमान लगाना मुश्किल होता है।

अधिकतम वर्षा उत्तर पर्वतीय क्षेत्र में होती है जो कि (285 मि.मि है जबकि उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्र, उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र और मध्य क्षेत्र में 40–50 मि.मि. एवं प्रायद्विपीय क्षेत्र में 26 मि.मि. वर्षा फसल के दौरान (नवम्बर से मध्य अप्रैल) तक होती है। पिछले फसल सत्र के अपेक्षा उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र में ज्यादा बारिश देखी गई है। लगभग सभी जलवायु क्षेत्रों में फसल के दौरान अधिक वर्षा देखी जा रही है। मध्य क्षेत्र और प्रायद्विपीय क्षेत्र के अधिकतर क्षेत्रों में फसल की बुआई के पहले सितम्बर में भारी बारिश हुई। पिछले चार फसल सत्र के मौसम आँकडों को देखने से पता चलता है कि मध्य क्षेत्र में 2011–12 एवं उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र में 2012–13 के औसत तापमान को छोड़ दिया जाए तो सभी जलवायु क्षेत्रों के औसत अधिकतम तापमान में 2015–16 के दौरान वृद्धि हुई है। औसत न्यूनतम तापमान में 2011–12 के अपेक्षा उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में 0.1 डिग्री से0 से प्रायद्विपीय क्षेत्र में 2.2 डिग्री से0, 2012–13 के फसल सत्र में उत्तर पर्वतीय क्षेत्र में 0.7 डिग्री से0 और प्रायद्विपीय क्षेत्र में 3.1 डिग्री से0, 2013–14 सत्र में मध्य क्षेत्र एवं उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र के औसत न्यूनतम तापमान में क्रमशः 0.9 डिग्री से0 तथा 1.8 डिग्री से0 की वृद्धि हुई है। समान रूप से औसत 2011–12 के अपेक्षा अधिकतम तापमान में वृद्धि इस प्रकार हुई है। उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में 2.1 डिग्री से0, उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में 5.4 डिग्री से0, मध्य क्षेत्र में 0.3 डिग्री से0, और प्रायद्विपीय क्षेत्र में 5.4 डिग्री से0 (2012–13), मध्य क्षेत्र में 0.8 डिग्री से0, प्रायद्विपीय क्षेत्र में 6.1 डिग्री से0 (2013–14), तापमान में वृद्धि हुई। इसी प्रकार 2014–15 फसल सत्र में मध्य क्षेत्र और उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में क्रमशः 1.8 डिग्री से0 और 8.2 डिग्री से0 तापमान में वृद्धि हुई। उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्र में अनाज भरने के चरण के पहले दो सप्ताह का औसत न्यूनतम तापमान भी अधिक रहा। पौधे की बढ़ने की अवस्था के दौरान नवम्बर में तापमान अधिक रहा किन्तु उसके बाद यह 10 डिग्री से0 हो गया। सभी अध्ययनों से ज्ञात होता है कि भारत में गेहूँ के फसल की विकास की हर अवस्था में औसत न्यूनतम तथा अधिकतम तापमान में वृद्धि हुई है। वर्षा का अनियमित होना भी गेहूँ विकास को प्रभावित करता है।

भारतीय गेहूँ उत्पादन पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव

बीते वर्षों में भारतीय गेहूँ उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई है और इसमें आत्मनिर्भरता हासिल किया है। किंतु चिंता का विषय यह है कि हरित क्रान्ति के बाद पिछले कुछ दशकों में गेहूँ उत्पादन में कमी आई है। अन्य कारकों के साथ जलवायु परिवर्तन के प्रभाव को इसका जिम्मेदार माना जा रहा है।

जलवायु स्मार्ट खेती आज की आवश्यकता

अनुज कुमार, सेंथिल आर., सत्यवीर सिंह, अनिता मीणा एवं जे. के. पाण्डेय

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

आज सम्पूर्ण ब्रह्मांड जलवायु परिवर्तन की वजह से आने वाले बदलावों को महसूस कर रहा है। सभी कृषि वैज्ञानिक, पर्यावरणविद्, मौसम वैज्ञानिक इस पर अपनी पैनी नजर रखे हुए हैं। यह जानने का लगातार प्रयास किया जा रहा है कि क्या जलवायु परिवर्तन को सिर्फ नकारात्मक प्रभाव ही पड़ता है या कुछ सकारात्मक प्रभाव भी है। साथ ही इससे उत्पन्न स्थिति से निपटने के लिए भी तरीके ढूँढ़े जा रहे हैं। एक बात तो स्पष्ट है कि तापमान वर्षा का वितरण, हिमपात, ओलावृष्टि, तुफान, बाढ़ आदि में कुछ अप्रत्याशित बदलाव हाल के वर्षों में अधिक देखने को मिला है जिससे जान–माल, पशुओं, पेड़–पौधों, समुद्री जीवों को काफी नुकसान हुआ है। बीमारियों व कीड़े–मकौड़े का प्रकोप भी काफी बढ़ा है। अतः इसमें कोई दो राय नहीं है कि जलवायु में परिवर्तन नहीं हो रहा है।

कृषि क्षेत्र जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से अछुता नहीं रह सकता है। खाद्य–सुरक्षा से जुड़ी हुई सबसे विकट समस्या जलवायु परिवर्तन है। विश्व के संसाधनहीन लोगों में शामिल किसान, मछुआरे, चरवाहे आदि उच्च तापमान और मौसम संबंधी आपदाओं के सबसे बड़े शिकार होते हैं। अध्ययनों से पता चला है कि छोटी जोत के किसान व उनकी खाद्य सुरक्षा जलवायु परिवर्तन की वजह से सर्वाधिक प्रभावित हुई है। भारत में आज 85 प्रतिशत किसान लघु व सीमांत हैं। ऐसे में ये कृषक भारतीय कृषि की रीढ़ हैं। साथ ही देश की आबादी लगातार बढ़ती जा रही है। खेती के लिए उपयोग में आने वाली जमीन का रकबा भी कम होता जा रहा है। अतः खाद्य एवं कृषि पद्धतियों को जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को कम करने वाली और अधिक सतत् उत्पादक व लचीले उपायों को अपनाने की आवश्यकता होगी जिसके माध्यम से हम पारिस्थितिक तंत्र और ग्रामीण आबादी की भलाई सुनिश्चित कर सकते हैं। विश्व खाद्य संगठन (एफएओ) ने दुनिया के सभी देशों का आह्वान किया है कि वे अपनी जलवायु कार्य योजना के तहत खाद्य एवं कृषि से संबंधित समस्याओं को सुलझाएँ और ग्रामीण विकास में अधिक निवेश करें। आज टिकाऊ तौर–तरीकों से आहार पैदा करने की आवश्यकता है ताकि कम उत्पादन लागत में उसी खेत से अधिक उत्पादन एवं प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण प्रयोग हो। उत्पादन स्थल से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में खाद्य पदार्थों को नुकसान से बचाने के लिए बेहतर कटाई यंत्र, भंडार गृह, पैकिंग, परिवहन व अन्य आधारभूत संरचना तथा समुचित बाजार तंत्र को शामिल करना भी उतना ही आवश्यक है।

जलवायु परिवर्तन से प्राकृतिक संसाधनों, वैश्विक जल आपूर्ति एवं मृदा की गुणवत्ता में गिरावट जैसे नकारात्मक प्रभाव देखने को मिल रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं सतत् प्रयोग का काफी महत्त्व है। सतत कृषि उत्पादन के लिए टिकाऊ कृषि प्रणालियों का अंगीकरण आज की आवश्यकता है। विश्व खाद्य संगठन में वर्ष 2016 के लिए एक संदेश जारी किया था "जलवायु परिवर्तन के साथ आहार एवं कृषि में बदलाव जरूरी"। अतः टिकाऊ खेती की परिकल्पना को साकार करने के लिए जलवायु स्मार्ट खेती के सिद्धांतों को अक्षरशः लागू करने की आवश्यकता आ पड़ी है। आज जलवायु परिवर्तन को देखते हुए प्राकृतिक संसाधनों की अधिक कुशलता से उपयोग करने तथा पर्यावरण के अनुकूल खेती के उपायों को अपनाने की आवश्यकता है। आवश्यकता है खेती की पारंपरिक व आधुनिक तकनीकों के आपसी तालमेल से खेती करने की जिससे प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक संसाधनों का समुचित एवं न्यायसंगत प्रयोग कर उत्पादन प्रणाली को टिकाऊ बनाया जाए।

आज की खेती ज्ञान और कौशल आधारित होती जा रही है। कृषि एवं इससे जुड़ी सभी विधाओं का समय पर ज्ञान तथा उसका सही समय पर अनुपालना ही एक किसान को नवोन्मेशी बनाता है तो दूसरे किसान को आम किसान। आज का युग सूचना और संचार प्रौद्योगिकी है। ज्ञान का भंडार आज इंटरनेट पर उपलब्ध है।

किसान अपने जरूरत के अनुरूप सूचनाओं को इंटरनेट से डाउनलोड कर उसको समझकर फिर कार्य कर सकता है। किसी भी नई फसल की खेती से सम्बन्धित सभी जानकारी किसान इंटरनेट के माध्यम से ले रहे हैं, फिर उसकी अनुपालना कर रहे हैं। किसी भी नई फसल की खेती शुरू करने के पहले किसानों को उसके विपणन की ही जानकारी आवश्यक है साथ ही भविष्य में उसकी मांग का भी आंकलन उतना ही आवश्यक है।

हमें जलवायु दक्ष कृषि की जरूरत क्यों है?

संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन ने अनुमान लगाया है कि वैश्विक जनसंख्या के भरण–पोषण के लिए कुल कृषि उत्पादन में 60 प्रतिशत बढ़ोत्तरी की जरूरत होगी। खाद्य सुरक्षा के लिए आवश्यक कई संसाधनों में कमी के साथ खाद्य सुरक्षा की चुनौती काफी बढ़ी है। इसके साथ ही जलवायु परिवर्तन भी काफी हद तक कृषि उत्पादन को स्थानीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावित कर रहा है। विशेष रूप से कम आय वाले देशों में जहाँ अनुकूलन क्षमता काफी कमजोर है। वहाँ आने वाले दशकों में कृषि, पशुधन तथा मत्स्यपालन के लिए जोखिम बढ़ने के आसार हैं। जलवायु परिवर्तन का कृषि पर पड़ने वाले प्रभाव खाद्य सुरक्षा तथा कृषि के ग्रामीण आजीविका तथा विकास में प्रमुख भूमिका को खतरे में डालता है। यदि भू–उपयोग परिवर्तन को शामिल किया जाये तो कृषि वैश्विक हरित गृह गैस उत्सर्जन का लगभग एक चौथाई भाग उत्सर्जित करता है। जलवायु दक्ष ग्राम विकास तथा अनुकूलन के समन्वय को हमेशा महत्त्व दिया जाता है। इसमें हस्तक्षेपों का कोई स्थिर पैकेज या एक आकार में सभी फिट (वन साइज फिट ऑल) वाला तरीका नहीं है। इसमें हमेशा हस्तक्षेपों की सभी श्रेणियों के समन्वयन पर जोर दिया जाता है, जो एक–दूसरे के संपूरक हों तथा स्थानीय परिस्थितियों के हिसाब से उपयुक्त हो।

सारणी 1. सीमांत कृषि उत्पादन में उपयोगी जलवायु दक्ष क्रियाएँ

फसल प्रबंधन	पशुधन प्रबंधन	मृदा एवं जल प्रबंधन	कृषि वानिकी	समन्वित खाद्य ऊर्जा प्रणाली
दलहन युक्त अंतः सस्य	उन्नत आहार योजना	संरक्षित कृषि (जैसे कि न्यूनतम जुताई)	सीमा रेखा वृक्ष तथा झाड़ियों की पंक्ति	बायोगैस
फसल चक्र	चक्रीय चराई	समोच्च रेखा रोपण	प्रक्षेत्र पर नाइट्रोजन स्थिरीकरण वृक्ष	ऊर्जा पौधों का उत्पादन
नई फसल प्रजातियाँ (जैसे कि सूखा प्रतिरोधी किस्में)	चारे वाली फसलें	वेदिका तथा बूंद	बहु उपयोगी वृक्ष	उन्नत चूल्हे
उन्नत भंडारण तथा प्रसंस्करण तकनीकी	चारागाह पुनः स्थापना एवं संरक्षण	रोपण गड्ढे	मृदा को उर्वर बनाने वाली झाड़ियां	
फसल विविधता	खाद्य उपचार	जल भंडारण	जंगल खंड	
	पशुधन स्वास्थ्य सुधार	परस्पर सूखा एवं गीला	फल उद्यान	
	पशुपालन सुधार	बांध, गड्ढे एवं मेंड़		
		उन्नत सिंचाई		

स्रोतः भार्मा एवं पडारिया, खेती, नवबंर 2016

सारणी 2. जलवायु दक्ष सस्य क्रियाएं/प्रौद्योगिकियाँ

सस्य क्रियाएं	खाद्य सुरक्षा	जलवायु जोखिम प्रबंधन	अनुकूलन	भामनीकरण
धान की सीधी बुआईः पानी की बचत तथा मृदा के भौतिक गुणों में सुधार	+	++	+++	+
धान में अंतराल पर सिंचाई। इस विधि में धान में पानी को भरे नहीं रखना पड़ता अपितु एक बार सूखने पर पुनः सिंचाई करते हैं। मीथेन उत्सर्जन में 48 प्रतिशत की कमी होने पर टेन्सियोमीटर की मदद से सिंचाई करते हैं।	++	+	+++	+++
मौसम की जानकारी तथा कृषि संबंधी जानकारी के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का प्रयोग आईसीटी आधारित कृषि सूचना प्रणाली का उपयोग, मौसम की सटीक जानकारी और मछुआरों को सलाह।	++	+++	+	
शून्य जुताई (जीरो टिलेज) मृदा की जल धारण क्षमता तथा क्षमता तथा कार्बन में वृद्धि। गेहूँ में 'अंतस्था ताप' से बचाव।	++	++	+++	++
लेजर लेवलिंग अथवा खेत समतलीकरण	++	++	++	+++
फसल अवशेष प्रबंधन	++	++	++	+++
फसल विविधीकरण	+++	+++	+	+
सस्य वानिकी	+		+	+++
पोषण प्रबंधन	+++		+	+++
स्थान आधारित पोषक तत्व प्रबंधन	+++		+	+++
ग्रीन सीकरः यह एक फसल में प्रयोग होने वाला सेंसर है जिसे फसल की कैनोपी के ऊपर रखकर नाइट्रोजन की सही मात्रा को फसल में डाल सकते हैं।				
लीफ कलर चार्टः चार्ट को देखकर नाइट्रोजन का प्रयोग करते हैं।	+++		+	+++

+ सामान्य क्षमता;. मध्यम क्षमता;. उच्च क्षमता (स्रोतः CCAFS एवं CIMMYT)

जलवायु स्मार्ट कृषि आधुनिक कृषि का पर्याय बन चुका है अतः इसकी परिकल्पनाओं को मूर्त रूप देना बदलते जलवायु परिवेश में खेती के लिए आवश्यक है। इसके सभी छः अवयवों का ज्ञान किसानों को होना आवश्यक है।

1. ज्ञान दक्ष तकनीकियाँः– इस में कोई दो राय नहीं है कि अब खेती ज्ञान आधारित होती जा रही है। अतः क्षमता विकास के द्वारा किसानों और उनके साथ काम करने वाली संस्थाओं के सदस्यों को समय–समय पर विभिन्न प्रशिक्षण के माध्यम से कुशल बनाने का प्रयास किया जाता है। ज्ञान दक्ष में सूचना एवं प्रसारण तकनीकियाँ, महिला सशक्तिकरण व क्षमता विकास मुख्य तकनीकियों को शामिल कर ज्ञान का शीघ्र संचार आवश्यक है। इसमें इंटरनेट आधारित विभिन्न ऐप का प्रयोग आवश्यक है। अर्थात् बैंक से पैसे तो हम निकाल रहे हैं मगर जमा नहीं कर रहे हैं। अतः आज स्थिति यह है कि मृदा में कार्बन की कमी आ गई हैं। इसको बढ़ाने की प्रक्रिया बहुत लंबी अवधि की है। आधुनिक कृषि के साथ परंपरागत तकनीकों का सामंजस्य स्थापित कर इस प्रक्रिया को अपनाया जाना चाहिए। मृदा में कार्बन की मात्रा बढ़ाने में कारगर तकनीकें; शून्य जुताई, संरक्षित कृषि, कृषि वानिकी, फसल अवशेषों को खेत में रखना एवं मिट्टी में मिलाना, हरी एवं भूरी खाद, गोबर की खाद, वर्मी कम्पोस्ट आदि का प्रयोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त विविध भू–उपयोग प्रणालियों द्वारा भी इसमें सहायता मिलती है।

2. मौसम दक्ष तकनीकियाँः– मौसम के पूर्वानुमान की जानकारी किसानों को मोबाईल फोन पर संदेश द्वारा दिया जाता है। किसानों को फसल की कीटों से सुरक्षा, बीमारी, सिंचाई इत्यादि की जानकारी देना। इस तरह की एस एम एस की सेवाएँ कृषि विश्वविद्यालय, कृषि विज्ञान केन्द्र, कृषि एवं किसान मंत्रालय के एम किसान पोर्टल से दिए जा रहे हैं। जिससे तत्कालिन फसल संबंधित विभिन्न पहलुओं पर निर्णय लेने में मदद मिलती है। मौसम स्मार्ट तकनीक में मौसम का पूर्वानुमान, सूचकांक आधारित बीमा, जरूरतों के अनुसार बीज, फसल विविधीकरण व कृषि वानिकी को लागू करने पर बल दिया जा रहा है। किसान मौसम सूचना तथा मूल्यवर्धक कृषि सलाहों से रेडियो कार्यक्रम, टेलीविजन, समाचार पत्र तथा मोबाईल फोन स्वर संदेश के माध्यम से जुड़ते हैं। किसान बीमा योजनाओं का उपयोग कर फसल वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में वर्षा तथा तापमान में परिवर्तन से जुड़ी जोखिमों से अपनी फसल को सुरक्षित कर सकते हैं।

3. ऊर्जा स्मार्ट तकनीकियाँः– कम ईंधन की खपत से ज्यादा खेत की बिजाई करना। जैसे जीरो टिलेज रोटरी डिस्क ड्रिल से बुआई। टर्बो हैप्पी सीडर से अधिक फसल अवशेषों में बीजाई। फसल अवशेष का प्रंबधन, धान की सीधी बीजाई।

4. जल स्मार्ट तकनीकियाँः– जल के समुचित इस्तेमाल के लिए अनेकों तकनीकें समय–समय पर विकसित की गई है। साथ ही कुछ पारंपरिक तकनीकें भी हैं जो जल संचय, जल पुनर्भरण एवं जल उपयोग में दक्ष हैं। टपका सिंचाई तथा प्रक्षेत्र जल प्रबंधन धान की सीधी बिजाई, फसल विविधीकरण मक्का की खेती, बेड प्लांटिंग, भूमि का समतलीकरण, धान में वैकल्पिक जल प्रबंधन, जीरो टिलेज तकनीक आदि जल प्रबंधन की दक्ष तकनीकें हैं। जल प्रबंधन विधियों का उद्देश्य जल की दक्षता तथा उत्पादकता को बढ़ाना है। उदाहरण के लिए जल निकास उन स्थानों पर महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ जल भराव की स्थिति पैदा होती है जैसे भारत में बिहार तथा बंग्लादेश। बिहार में लंबवत जल निकास का मूल्यांकन इस उद्देश्य के साथ किया जा रहा है कि बाढ़ का जल जल्दी से प्राकृतिक जल मात्रा वापस पहुँचने में मदद करेगा तथा पुनर्भरण एवं खड़ी फसल सुरक्षा के दोहरे फायदे प्रदान करेगा।

5. पोषक स्मार्ट तकनीकियाँः– इसके लिए प्रक्षेत्र विशेष पोषण प्रबंधन (एसएसएनएम) मक्का और गेहूँ में न्यूट्रीएंट एक्सपर्ट सॉफ्टवेयर के माध्यम से उर्वरक की मात्रा का निर्धारण, ग्रीन सीकर से यूरिया की गणना कर इस्तेमाल, लीफ कलर चार्ट (पर्ण रंग चार्ट), दलहनों का दो धान्य फसलों के बीच समावेश।

6. कार्बन स्मार्ट तकनीकियाँः– जीरो टिलेज से खेती व फसल अवशेषों का उचित प्रबंधन की तकनीकों का प्रयोग। हमारे देश की मृदाओं में कार्बन की मात्रा का निरंतर ह्रास हो रहा है मगर उसकी भलाई के सार्थक

प्रयास नहीं किए जा रहे हैं। मृदा में कार्बन की मात्रा को कृषि वानिकी, पशुधन एवं खाद्य प्रबंधन, संरक्षित जुताई, विविध भू–उपयोग प्रणाली तथा अवशेष प्रबंधन जैसी क्रियाओं के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

एक जलवायु दक्ष ग्राम में प्रमुख हस्तक्षेप

- **मौसमः** किसानों के लिए निकट भविष्य की मौसमी घटनाओं की सूचना जलवायु लचीले कृषि उत्पादन की योजना बनाने में काफी सहायक होती है। किसान मौसम सूचना तथा मूल्यवर्धक कृषि सलाहों से रेडियो कार्यक्रम, टेलीविजन, समाचार पत्र तथा मोबाईल फोन स्वर संदेश के माध्यम से जुड़ते हैं। किसान बीमा योजनाओं का उपयोग कर फसल वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में वर्षा तथा तापमान में परिवर्तन से जुड़ी जाखिमों से अपनी फसल को सुरक्षित कर सकते हैं।
- **जल प्रबंधन** विधियों का उद्देश्य जल की दक्षता तथा उत्पादकता को बढ़ाना है। इनमें जल पुनः भ्रमण, जल संचय, जल संरक्षण, जल प्रबंधन। इसके मुख्य घटक हैं। लेजर भूमि–समतलीकरण, टपका सिंचाई तथा प्रक्षेत्र जल प्रबंधन उपाय शामिल हैं।
- **कार्बनः** मृदा में कार्बन की मात्रा को कृषि वानिकी, पशुधन एवं खाद्य प्रबंधन, संरक्षित जुताई, विविध भू–उपयोग प्रणाली तथा अवशेष प्रबंधन जैसी क्रियाओं के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।
- **पोषणः** जलवायु दक्ष ग्राम में किसान अपनी फसल के लिए नाइट्रोजन उर्वरकों की सबसे उपयुक्त मात्रा के निर्धारण के लिए पर्ण–रंग चार्ट, हस्त फसल संवेदक तथा पोषक तत्व निर्णय निष्पादक मशीन इत्यादि का प्रयोग करते हैं। इससे लागत में बचत तथा हरित गृह गैसों के उत्सर्जन में कमी आती है।
- **ऊर्जाः** जलवायु परिवर्तन, कृषि एवं खाद्य सुरक्षा (सीसीएएफएस) ऊर्जा संरक्षण तथा हरित गृह गैसों के उत्सर्जन में कमी लाने के लिए हस्तक्षेप के रूप में ईंधन–दक्ष कृषि मशीनरी, अवशेष प्रबंधन तथा कम जुताई इत्यादि का प्रयोग करता है। कुछ मामलों में सघन डेरी उपक्रम से पोर्ट फोलियों के घटक के रूप में स्लरीयुक्त बायोगैस प्रणाली को प्रोत्साहित किया जाता है। जलवायु परिवर्तन, कृषि एवं खाद्य सुरक्षा (सीसीएएफएस) तथा भागीदार संस्थान किसानों के लिए अनुरूप स्थलों एवं अन्य क्षेत्रों, जिन पर जलवायु–दक्ष कृषि की जा रही है, पर स्थल भ्रमण की व्यस्था करते हैं।
- **जलवायुः** दक्ष ग्राम में क्राउडसोर्सिंग बीज की एक नवाचार विधि का उपयोग किया जाता है। बहुत सारे किसानों को उनकी स्थानीय स्थिति की दर से दर से सबसे उपयुक्त अनुकूलित प्रजातियों के बीजों के पैकेट्स मूल्याकंन के लिए दिये जाते हैं। ये किसान शोधकर्ताओं को उत्तम प्रजातियों के विकास में सहयोगी प्रतिपुष्टि प्रदान करते हैं।

स्मार्ट कृषि और जलवायु स्मार्ट फसलें : पोषण सुरक्षा की पूरक

संगीता वी., प्रेमलता सिंह, प्रतिभा जोशी, सत्यप्रिय, वेंकटेश पी. एवं लेनिन वी

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली

"हरित क्रांति के बाद अब देश में पोषण क्रांति की आवश्यकता है"

–एम. एस. स्वामीनाथन (हरित क्रांति के स्वर्ण जयंती के उपलक्ष्य में)

विश्व खाद्य शिखर सम्मेलन के अनुसार खाद्य सुरक्षा को "सभी लोगों को हर समय, पर्याप्त सुरक्षित और पौष्टिक खाना उपलब्ध हो जिससे कि अपने सक्रिय और स्वस्थ जीवन का शारीरिक व आर्थिक रूप से उपयोग कर सकें" के रूप में परिभाषित किया गया है। खाद्य और पोषण सुरक्षा के चार प्रमुख स्तंभों जैसे भोजन की उपलब्धता (पर्याप्त और अच्छी गुणवत्ता के खाद्य), एक्सेसिबिलिटी या पहुँच (उचित खाद्य पदार्थों पर पर्याप्त संसाधनों एक पौष्टिक आहार प्राप्त करने के लिए) भोजन की उपयोगिता और स्थिरता (ज्ञान, खान–पान की उचित आदत, पर्याप्त पानी, साफ–सफाई और स्वास्थ्य की देखभाल) पर आधारित है। प्रायः खाद्य सुरक्षा का अर्थ, देश के हर नागरिक तक भोजन उपलब्धता को समझा जाता है जबकि खाद्य सुरक्षा केवल देश के नागरिकों तक भोजन पहुँचाना नहीं बल्कि भोजन द्वारा उचित मात्रा में पोषक तत्वों की उपलब्धता भी है। खाद्य सुरक्षा की अवधारणा व्यक्ति के मूलभूत अधिकार को परिभाषित करती है। अपने जीवन के लिये हर किसी को निर्धारित पोषक तत्वों से परिपूर्ण भोजन की जरूरत होती है। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि भोजन की जरूरत नियत समय पर पूरी हो।

विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार दुनिया में खाद्य असुरक्षा (सोफी) की स्थिति आज भी चिंताजनक है क्योंकि 702 मिलियन लोग अभी भी बेहद गरीबी में रहते हैं और विश्व के 793 मिलियन लोग कुपोषण का शिकार हैं। भारत में प्रति व्यक्ति औसतन कैलोरी खपत ग्रामीण क्षेत्रों के लिये 2233 तथा शहरों के लिये 2206 है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 तथा शहरों में 2220 कैलोरी खपत से नीचे वाले व्यक्तियों को गरीबी रेखा से नीचे रखा गया है यानि अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में लोगो को उचित कैलोरी नहीं मिल पा रही है, यही नहीं देश में 40 प्रतिशत बच्चे एवं 60 प्रतिशत महिलाओं में कई महत्त्वपूर्ण पोषण तत्वों की कमी है जो उनके बौद्धिक एवं शारीरिक विकास में गहरा असर डाल रहा है। खाद्य सुरक्षा एवं पोषण, भारतीय नागरिकों के स्वास्थ्य से सीधा जुड़ा है तथा कृषि, खाद्य सुरक्षा एवं पोषण दोनों पर ही असर डालती है।

विश्व के अन्य क्षेत्रों की भांति भारत भी जलवायु परिवर्तन का सामना कर रहा है। 21वीं सदी में जलवायु परिवर्तन हवा, पानी, भोजन, आवास और रोग के नियंत्रण (जो हम सभी के अच्छे स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण हैं) को प्रभावित कर रहा है। जलवायु परिवर्तन की वजह से भोजन की समस्या, फसल–चक्र में बदलाव, सूखा, बाढ़, अल्प वृष्टि, अति वृष्टि, रोगों की अधिकता, मानव स्वास्थ्य पर कुप्रभाव, और अकाल मृत्यु जैसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। जलवायु संबंधी प्राकृतिक आपदाएँ, संभावित फसलों, महत्त्वपूर्ण बुनियादी ढांचे, महत्त्वपूर्ण समुदाय की सम्पत्ति को नष्ट कर देती हैं इसलिए आजीविका बिगड़ती और गरीबी भी बढ़ती है।

पोषण और जलवायु परिवर्तन

जलवायु परिवर्तन की वजह से मानवीय विकास में बदलाव होंगे जिसके विषय में पहले से ही संभावित विश्लेषण और नीतिगत विचार किया जाना जरूरी है। जलवायु परिवर्तन का सीधा कुप्रभाव कृषि उत्पादन और खाद्य प्रणाली पर पड़ेगा जिससे कुपोषण भी बढ़ेगा।

सारिणी 2 : खाद्य सुरक्षा पर जलवायु परिवर्तन के संभावित परिणाम

खाद्य सुरक्षा आयाम	जलवायु परिवर्तन के परिणाम
भोजन की उपलब्धता (उपभोग के लिए भोजन की पर्याप्त मात्रा)	• स्थानीय स्तर पर (विशेष रूप से उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में) कृषि उत्पादन कम तथा आहार विविधता को प्रभावित कर सकता है • फसल उत्पादन के लिए भूमि की उपयुक्तता में परिवर्तन • वर्षा के पैटर्न में परिवर्तन, कुछ क्षेत्रों में बारिश से सिंचित कृषि की स्थिरता को प्रभावित कर सकता है • तापमान में वृद्धि शीतोष्ण क्षेत्रों में लंबे समय तक मौसम में बदलाव
भोजन की एक्सेसिबिलिटी या पहुँच (भोजन नियमित रूप से प्राप्त करने की क्षमता, स्वयं के उत्पादन या खरीद के माध्यम से)	• कुछ क्षेत्रों में कम पैदावार के कारण खाद्य पदार्थों की उच्च कीमतें • कृषि उत्पादन में नुकसान के कारण आय में कमी
स्थिरता (भोजन का उपभोग करने के लिए आवश्यक संसाधनों के उपयोग)	• खाद्य आपूर्ति की अस्थिरता • कृषि से आय की अस्थिरता
भोजन की उपयोगिता (गुणवत्ता और भोजन की सुरक्षा, पोषण पहलुओं सहित)	• खाद्य सुरक्षा और स्वास्थ्य प्रभावों में वृद्धि

भोजन की उपलब्धता

जलवायु परिस्थितियों में परिवर्तन ने मुख्य फसलों के उत्पादन को प्रभावित करना शुरू कर दिया है, और भविष्य में परिस्थितियाँ और विषम होंगी। उच्च तापमान के कारण फसल उत्पादकता पर प्रभाव पड़ता है, जबकि बारिश में परिवर्तन (अल्प व अति वृष्टि) फसल की गुणवत्ता और मात्रा दोनों को प्रभावित करते हैं।

भोजन की एक्सेसिबिलिटी या पहुँच

जलवायु परिवर्तन कुछ क्षेत्रों में प्रमुख फसलों की कीमतों में वृद्धि कर सकता है। कम कृषि उत्पादन से आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग सबसे अधिक प्रभावित होता है क्योंकि कम उत्पादन, कम आय का कारक है। इस वजह से गरीब लोग जो अपनी आय का सबसे अधिक उपयोग भोज्य पदार्थों की उपलब्धता सुनिश्चित करने में करते हैं। हमें जरूरत है कि इसके सापेक्ष ऐसी रणनीतियाँ बनाई जाएँ जो उनके पोषण आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम हों।

खाद्य उपयोग

जलवायु संबंधी परेशानियां, विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ खाद्य असुरक्षा पहले से ही एक महत्त्वपूर्ण समस्या है को अधिक प्रभावित कर रहा है। जलवायु परिस्थितियों में बदलाव बीमारी और भूख का एक दुष्चक्र पैदा कर सकता है। आज जलवायु परिवर्तन देश में पोषण खाद्य सुरक्षा, आहार विविधता, खान–पान की उचित आदत और स्वास्थ्य पर संबंधित प्रभावों को सबसे ज्यादा प्रभावित कर रहा है।

खाद्य स्थिरता

जलवायु परिवर्तनशीलता, लगातार व तीव्र मौसम की घटनाओं के द्वारा उत्पादित बदलाव, मानवीय और सरकार द्वारा संचालित खाद्य सुरक्षा रणनीतियों की स्थिरता पर एक बड़ा प्रश्न खड़ा कर रहे हैं जिससे लगातार भोजन की उपलब्धता, उपयोग और उपभोग में उतार–चढ़ाव आ रहा है।

पोषण स्मार्ट कृषि की जरूरत

सरकार द्वारा संचालित पोषण संबन्धित योजनाओं तथा अन्य वैश्विक लक्ष्यों को प्राप्त करने में पोषण स्मार्ट कृषि आवश्यक है। यह जलवायु परिवर्तन से लड़ने के लिए एक संभावित समाधान में से एक है जिसका दृष्टिकोण खाद्य एवं पोषण सुरक्षा के संयोजन करना है। फसलों के अच्छे व तुरंत उत्पादन हेतु किसानों द्वारा अंधाधुंध उर्वरक व कीटनाशकों का उपयोग हो रहा है जिसने ना सिर्फ मृदा को अनउपजाऊ कर दिया है वरन् लोगों के स्वास्थ्य में गहरा कुप्रभाव डाला है। विभिन्न तकनीकों जैसे मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने के लिए नाइट्रोजन का उपयोग और उत्पादन की विविधता, जल व मृदा संरक्षण एवं संवर्धन व पुनः प्रयोग प्रणाली (सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली), गुणवत्ता युक्त बीजों का प्रयोग, मल्चिंग, फसल भंडारण द्वारा पोषण में सुधार लाया जा सकता है। इसके साथ ही जरूरत है कि ग्रामीण समाज जिसमें किसान, महिलाओं, नवाचारों को उचित समर्थन (ज्ञान, वित्त पोषण, संस्थागत समर्थन) देकर आगे बढ़ाने की जरूरत है। इसके अतिरिक्त नवोन्मेषी कार्यों में लिप्त जोखिमों का पहले से ही आंकलन करना आवश्यक है जिससे गरीब ग्रामीण परिवारों को पोषण सुरक्षा का अधिकतम लाभ मिल सके। वातावरण में बढ़ती कार्बन डाई ऑक्साईड का स्तर के संदर्भ में भी अनुसंधान करने कि जरूरत है जो की प्रमुख फसलों की सुरक्षा के पोषक मूल्य में बदलाव के मुख्य कारण है। साथ ही साथ जलवायु परिवर्तन के विषम प्रभावों से बचने के लिए नई प्रौद्योगिकियों का विकास व किसानों तक प्रसार भी अत्यंत आवश्यक है। स्मार्ट कृषि के साथ ही सामाजिक पोषण सुरक्षा को अधिक मजबूत करने की जरूरत है जिसके लिए स्थानीय अनुबंध खेती, भोजन के प्रावधान लिंक (स्कूलों में मिड डे मील द्वारा) आदि कार्यक्रम है जिससे भोजन के स्तर, गरीबों के आहार की गुणवत्ता की रक्षा और बढ़ती खाद्य कीमतों का सामना करने में हम सक्षम हो सकते हैं।

पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए जलवायु स्मार्ट फसलें

आज विडम्बना यह है कि कृषि के व्यावसायीकरण के साथ ही धान और गेहूँ की एकल फसल प्रणालियों की अधिकता से, कंद, दलहन और मोटे अनाज जैसे पारंपरिक खाद्य फसलों ने फसल प्रणाली में अपनी जगह खो दी है। आज भारत खाद्य उत्पादन में स्वावलम्बी तो हो गया है पर कुपोषण की समस्या को हल नहीं कर पाया जो भारत के भविष्य के लिये सबसे हानिकारक सिद्ध हो सकता है। पारंपरिक फसल किस्मों जिनको गरीबों का भोजन समझा जाता था आज उनके प्रसार का वक्त आ गया है। पोषक एवं पारंपरिक फसलें जैसे ज्वार, बाजरा का उत्पादन बढ़ने के साथ–साथ कृषि वैज्ञानिकों को पोषण को ध्यान मे रखते हुए बायो फोर्टिफाएड (जैव सबंधित फसलें किस्मों का उत्पादन को बढ़ावा देना होगा जिनमें स्वास्थ्यवर्धक पोषक तत्व उपस्थित हो। रासायनिक खादों का अत्यधिक प्रयोग भी मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरता का ह्रास कर उत्पादन क्षमता में दुष्प्रभाव डालता है। आज कंद, कदन्न फसलों व दालों की खेती को पुनर्जीवित करने पर विचार करना समय की मांग है। कंद फसलें कृषि जलवायु परिस्थितियों से निबटने के लिए अनुकूल है तथा उपज के रूप में अच्छा प्रदर्शन दे सकती हैं और मानव स्वास्थ्य के लिए उपयोगी हैं। यह फसलें कंद व वनस्पति के साथ ही सूखा, बाढ़, और गर्मी के तनाव आदि प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करके भी अच्छा उत्पादन देती हैं। वे अनुकूल परिस्थितियों के दौरान ही अधिकतम विकसित हो जाती हैं, इसलिए फसल खराब होने की संभावना बहुत कम होती है। कदन्न (मिलेट) फसलें सूखा प्रतिरोधी हैं अर्द्ध शुष्क उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों और पर्वतीय क्षेत्रों में जलवायु परिवर्तन से लड़ने के लिए सक्षम हैं। कदन्न फसलों की भांति ही दलहन विटामिन और खनिज लवण महत्त्वपूर्ण मात्रा में

प्रदान करते हैं। दलहन में उच्च कोटि का प्रोटीन पाया जाता है जो गेहूँ, जई, जौ और चावल आदि आनाजों के पूरक हैं तथा विकासशील देशों में आबादी को पोषण प्रदान करने के लिए जरूरी है। हमारे देश में कुपोषण व कम पोषण से होने वाली बीमारियों की वजह से सब्जियों का काफी महत्त्व है। सब्जियाँ हमारे भोजन को आसानी से पचने योग्य, संतुलित तथा पोषण युक्त बनाती हैं। कुपोषण को सुधारने के लिए डाइटिशियन प्रति व्यक्ति प्रतिदिन 300 ग्राम सब्जी का उपयोग आवश्यक बताते हैं।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अंतर्गत कई अनुसंधान संस्थानो ने फसलों की पोषक वर्धक किस्मों का निर्माण किया है जिनका प्रसार आज समय की मांग है। इस कदम से खेत से भोजन की थाली तक का सफर पोषक तत्वों के साथ तय किया जा सकता है जिससे कुपोषण को दूर करने में निश्चित ही सहायता मिलेगी।

सारिणी 2 : भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित पोषण युक्त फसलों की उन्नत किस्में

फसल	किस्म का नाम	पोषण स्तर
गेहूँ	एच आई 8627 (मालवकीर्ति) एच आई 8663(पोषण) एच डी 4672 (मलवरतना) एच डी 2932 (पूसा गेहूँ) एच आई 8498 (मालवशक्ति) एच आई 8713 (पूसा मंगल) एच आई 1563 (पूसा प्राची)	विटामिन ए का समृद्ध श्रोत दलिया सूजी एवं पास्ता बनाने के लिए समर्थ दलिया एवं सूजी बनाने के लिए समर्थ जिंक का समृद्ध श्रोत दलिया एवं सूजी बनाने के लिए समर्थ बीटा कैरोटीन, आयरन एवं जिंक का समृद्ध श्रोत आयरन, कॉपर एवं जिंक का समृद्ध श्रोत
चना	पूसा 372 (देशी) पूसा चमत्कार (बी जी 1053) (काबुली)	दाल एवं बेसन बनाने के लिए समर्थ भोजन हेतु उत्कृष्ट पकने में सक्षम
मसूर	पूसा वैभव	आयरन का समृद्ध श्रोत
गाजर	पूसा वसुधा पूसा रुधिरा पूसा नयन ज्योति	बीटा कैरोटीन, लाईकोपीन एवं खनिज का समृद्ध श्रोत कैरोटीनॉएड्स का समृद्ध श्रोत जड़े बीटा कैरोटीन का समृद्ध श्रोत
सरसों सब्जी हेतु	पूसा साग 1	विटामिन सी एवं कैरोटीन का समृद्ध श्रोत
सरसों तेल हेतु	पूसा सरसों 29 (एल ई टी 36) पूसा सरसों 21 (एल ई एस 127) पूसा करिश्मा (एल ई एस 39) पूसा सरसों 30(एल ई एस 43)	बहुत कम ईरुसिक एसिड ईरुसिक एसिड < 2 प्रतिशत ईरुसिक एसिड < 2 प्रतिशत 0: ईरुसिक एसिड
आम	पूसा श्रेष्ठ पूसा प्रतिभा पूसा लालिमा पूसा पीताम्बर	विटामिन सी एवं कैरोटीन का समृद्ध श्रोत विटामिन सी एवं कैरोटीन का समृद्ध श्रोत विटामिन सी एवं कैरोटीन का समृद्ध श्रोत विटामिन सी एवं कैरोटीन का समृद्ध श्रोत
अंगूर	पूसा नवरंग	एंटी आक्सिडेंट का समृद्ध श्रोत

श्रोत : भा. कृ. अनु. स. (2014), उच्च उत्पादकता एवं लाभ हेतु उन्नत कृषि प्रौद्योगिकियाँ, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान नई दिल्ली

बढ़ती हुए आबादी, संसाधनों के ह्रास, मृदा का घटता स्वास्थ्य एवं कुपोषण ने खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं कृषि के समक्ष गंभीर चुनौतियाँ खड़ी की है जिनका हल कृषि की उन्नत तकनीकों एवं नवीनतम कृषि प्रसार द्वारा संभव है जिसके लिये कृषि वैज्ञानिकों, प्रशासनिक अधिकारियों एवं नीतिधारकों को साथ मिलकर कदम बढ़ना होगा तब भारत कुपोषण मुक्त एवं खाद्य सुरक्षित असर मायने में एक स्वस्थ देश बनेगा।

हाल ही में खाद्य और आर्थिक संकट के बाद, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय और पोषण हितधारकों ने समुदाय आधारित खाद्य सुरक्षा और आजीविका सुनिश्चित करने के लिए तथा नवाचार और प्रतिबद्धता प्रदर्शित करने के लिए अनेक नकदी और वाउचर कार्यक्रम जैसे तुरंत उपयोग हेतु चिकित्सीय खाद्य (रेडी टू यूज थेराप्यूटिक फूड), तीव्र कुपोषण का समुदाय आधारित प्रबंधन कम्युनिटी बेस्ड मैनेजमेंट ऑफ एक्यूट मालन्यूट्रीशन आदि कार्यक्रम शुरू किए हैं। पोषण सिर्फ भोजन के बारे में नहीं है लेकिन यह सब शिशुओं, किशोरों और माताओं और पुरुषों की जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त मात्रा, गुणवत्ता (सुरक्षा), और पसंद के भोजन की विविधता सुनिश्चित करना है।

बदलते जलवायु का कीटों पर प्रभाव

पूनम जसरोटिया, सुभाष कटारे, प्रियंका चंद्रा, पी. एल. कश्यप, सुधीर कुमार एवं डी. पी. सिंह

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001

जलवायु परिवर्तन आज सबसे महत्त्वपूर्ण वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं में से एक है। जलवायु परिवर्तन औसत मौसमी दशाओं के स्वरूप में ऐतिहासिक रूप से बदलाव आने को कहते हैं। जलवायु की दशाओं में यह जलवायु परिवर्तन का मतलब मौसम में आने वाले व्यापक बदलाव से है। जलवायु परिवर्तन के कारणों को दो भागों में बांटा जा सकता है–प्राकृतिक व मानव निर्मित। प्राकृतिक कारणों में प्रमुख हैं–महाद्वीपों का खिसकना, ज्वालामुखी, समुद्री तरंगें और धरती का घुमाव। मानवीय कारण में मुख्य है ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में बेतहाशा वृद्धि शामिल है।

पृथ्वी द्वारा सूर्य से ऊर्जा ग्रहण की जाती है जिसके चलते धरती की सतह गर्म हो जाती है। जब ये ऊर्जा वातावरण से होकर गुजरती है, तो कुछ मात्रा में लगभग 30 प्रतिशत ऊर्जा वातावरण में ही रह जाती है। इस ऊर्जा का कुछ भाग धरती की सतह तथा समुद्र के जरिये परावर्तित होकर पुनः वातावरण में चला जाता है। वातावरण की कुछ गैसों द्वारा पूरी पृथ्वी पर एक परत सी बना ली जाती है व वे इस ऊर्जा का कुछ भाग भी सोख लेते हैं। इन गैसों में शामिल होती है कार्बन डाई ऑक्साईड, मिथेन, नाईट्रस ऑक्साईड व जल कण, जो वातावरण के 1 प्रतिशत से भी कम भाग में होते हैं। इन गैसों को ग्रीन हाउस गैसें भी कहते हैं। जिस प्रकार से हरे रंग का कांच ऊष्मा को अन्दर आने से रोकता है। कुछ इसी प्रकार से ये गैसें, पृथ्वी के ऊपर एक परत बनाकर अधिक ऊष्मा से इसकी रक्षा करती है। इसी कारण इसे ग्रीन हाउस प्रभाव या ग्रीन हाउस इफेक्ट कहा जाता है। ग्रीन हाउस गैसों की परत पृथ्वी पर इसकी उत्पत्ति के समय से है। चूंकि अधिक मानवीय क्रिया–कलापों के कारण इस प्रकार की अधिकाधिक गैसें वातावरण में छोड़ी जा रही है जिससे ये परत मोटी होती जा रही है व प्राकृतिक ग्रीन हाउस का प्रभाव समाप्त हो रहा है।

जलवायु परिवर्तन के कारण तापमान और कार्बन डाई–ऑक्साईड के स्तर में वृद्धि के फलस्वरूप फसल के कीटों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। कीड़ों के शरीर का तापमान पर्यावरण के तापमान के साथ बदलता है इसलिए इन्हें पोइकिलोथेर्मिक जीव की श्रेणी में रखा गया है।

जलवायु परिवर्तन से कीटों पर पड़ने वाले कुछ मुख्य प्रभाव इस प्रकार से हैं।

1. जलवायु परिवर्तन से जुड़े तापमान में वृद्धि के कारण कीड़ों के प्रजनन, विकास एवं अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।
2. यह अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक 2 डिग्री से0 तापमान में वृद्धि से कीड़ों के एक मौसम में एक से पांच अतिरिक्त जीवन–चक्र हो सकते हैं। इसके इलावा कीटों के पीढ़ियों की संख्या एवं विकास–चक्र में वृद्धि हो सकती है।
3. पराबैंगनी (यु. वी किरणों) विकिरण पौधों के स्वास्थ्य को कमजोर बना देती है जिससे उन पर कीट और रोगों आने की संभावना अधिक हो जाती है।
4. कार्बन डाई–ऑक्साईड की मात्रा में वृद्धि होने से पौधों में कार्बन/नाइट्रोजन का अनुपात बढ़ जाता है जिससे प्रोटीन सीमित कीड़ों की खुराक में पोषक तत्वों की गुणवत्ता में कमी हो जाती है और उनके भोजन के सेवन क्षमता बढ़ जाती है।

5. तापमान में वृद्धि के कारण कीड़ों के भौगोलिक सीमा का विस्तार हो रहा है। यह उल्लेख किया गया है ऐसी परिस्थितियों में कीड़ों की उच्च अक्षांश और ऊँचाई वाली जगहों पर जाने की संभावना बढ़ गई है।
6. जलवायु परिवर्तन से प्रवासी कीटों द्वारा आक्रमण एवं नये वैकल्पिक मेजबान (होस्ट) में वृद्धि होने की भी संभावना हैं।
7. कीड़ों का सर्दियों में मृत्यु दर सर्दियों में अधिक तापमान के कारण कीट सख्या को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है और उससे कीड़ों से होने वाली हानि में भी बढ़ोत्तरी होती है।

जलवायु परिवर्तन के कारण कीट व्यवहार में परिवर्तन के उदाहरण

8. तापमान में 1 डिग्री से0 की वृद्धि से कपास में बॉल्वर्म (bollworm) से नुकसान 4.17 प्रतिशत बढ़ सकती है।
9. चारा फसल (ज्वार) में असामान्य रूप से गंभीर सूखे से तना बेधक द्वारा क्षति बढ़ गई है।
10. गेहूँ में पत्ती माहू एवं गुलाबी तना भेदक की समस्या तापमान और कार्बन डाई–ऑक्साईड में वृद्धि के कारण बढ़ सकती है।
11. जलवायु परिवर्तन के परिणाम स्वरूप वर्ष 2002–03 के दौरान कर्नाटक और महाराष्ट्र राज्यों में गन्ना में ऊनी माहूँ के प्रकोप के कारण गन्ना को 30 प्रतिशत अधिक नुकसान हुआ।
12. उच्च तापमान एवं नमी के कारण चावल में तना बेधक एवं हिस्पा द्वारा हानि बढ़ सकती है।
13. उच्च तापमान एवं नमी से सफेद गिडार (कटावर्म) का प्रकोप बढ़ सकता है ।
14. शुष्क अवधि का कम होने से मीली बग एवं मीट्स द्वारा क्षति बढ़ सकती है ।
15. लंबे समय तक गर्म जलवायु से टिड्डी (ग्रास हॉप्पर) के प्रजनन चक्र बसंत, ग्रीष्म और शरद ऋतु के दौरान बढ़ सकता है ।
16. वर्षा में वृद्धि काफी हद तक प्रजातियों को प्रभावित करेगा विशेष रूप से बीटल को जिनकी ग्रब प्रसार क्षमता कम है, जो उनके विस्तार करने की क्षमता को सीमित कर देगा।

जलवायु परिवर्तन का मित्र कीट पर प्रभाव

जलवायु परिवर्तन से कीट प्रजातियों के प्राकृतिक शत्रुओं पर विविध प्रभाव हो सकते हैं।

1. तापमान में वृद्धि से मित्र कीटों का मृत्यु दर बढ़ सकता है जिससे उनकी कीट–नियंत्रित क्षमता कम हो सकती है और उस समय वे जलवायु से प्रभावित नए क्षेत्र में प्रकट हुए हानिकारक कीटों को नियंत्रित करने के लिए वे प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो पायेंगे।
2. जलवायु परिवर्तन से मित्र कीड़ों के विभिन्न समूहों की प्रतिदिन गतिविधि स्वरूप एवं समय में बदलाव हो सकता है जिससे उनकी हानिकारक कीड़ों को नियंत्रित करने की क्षमता में कमी हो सकती है।
3. तापमान न केवल मित्र कीट के विकास की दर को प्रभावित करता है बल्कि उससे मित्र कीड़ों के प्रजनन, लिंग अनुपात एवं अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है।
4. मित्र कीट जलवायु चरम सीमाओं के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। गर्मी, सर्दी, हवा और बारिश में थोड़ा–सा भी बदलाब से वे प्रभावित हो जाते हैं।
5. लम्बे समय तक अधिक नमी होने के कारण एंटोमोपैथोजेनिक फँफूद की संख्या भी बढ़ सकती जो कि कीट–नियंत्रित सहायक युक्त होगी।

6. जलवायु परिवर्तन से परागणकर्ता के स्थानीय बहुतायत एवं उनके बड़े पैमाने पर वितरण का प्रभाव पड़ेगा। वायु परागण पौधे की तुलना में कीट परागण पौधे जलवायु परिवर्तन को अधिक प्रभावित होंगे।
7. बसंत में तापमान में वृद्धि से फूल की बदलता कम हो सकती है जिससे परागणकर्ता की प्रजातियों को हानि होगी। एक अध्ययन के अनुसार तापमान में हर एक डिग्री सेल्सियस वृद्धि से तितलियों की आबादी में 14 प्रतिशत नुकसान हो सकता है।
8. जलवायु परिवर्तन से प्राकृतिक तुल्यकालन में व्यवधान होगा जिससे फूलों के खुलने के समय में बदलाब आएगा जिससे मधु मक्खियों, ततैया और तितलियों की प्रभावशीलता पर असर पढ़ेगा।

जलवायु परिवर्तन से फसल सुरक्षा प्रौद्योगिकियों पर प्रभाव

1. तापमान और वर्षा में वृद्धि होने से कीटनाशक अवशेषों के तेजी से अपव्यय होगा जिससे किसान को कीटनाशकों का स्प्रे बार–बार करना पड़ेगा।
2. जलवायु परिवर्तन से मित्र कीट की गतिविधियों प्रभावित होगी जिससे प्राकृतिक नियंत्रण पर भी प्रभाव पड़ेगा।
3. जलवायु परिवर्तन से प्रभावित मिट्टी की नमी एवं उर्वरता में आया कोई भी बदलाब मिट्टी में डाले गए कीटनाशक पर असर करेगा जिससे कीट प्रबंधन प्रभावित होगा।

जलवायु परिवर्तन से बचने के कुछ सुरक्षात्मक उपाय

1. संरक्षण कृषि के माध्यम से ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम किया जा सकता है।
2. खेती में फसल विविधीकरण, एरोबिक चावल, जैविक खेती, जैविक खाद, जैविक कीट नियंत्रण जैसी प्रौद्योगिकियों को अपनाकर जलवायु परिवर्तन के बुरे प्रभाव से बचा जा सकता है।
3. जीवाष्म ईंधन के उपयोग में कमी की जाए एवं प्राकृतिक ऊर्जा के स्रोतों को अपनाया जाए जैसे सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा आदि।
4. पेड़ों को बचाया जाए व अधिक वृक्षारोपण किया जाए।
5. प्लास्टिक जैसे अपघटन में कठिन व असंभव पदार्थ का उपयोग न किया जाए।

बदलते जलवायु परिवेश में पशुपालन

डा. सोहनवीर सिंह एवं योगेन्द्र कुमार

सी.आर.एल.आर.सी. (निकरा), भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल

ग्रीष्म ऋतु में जब वातावरण का तापमान सामान्य से अधिक हो जाता है, तो पशु प्रजातियों में गर्मी के द्वारा उत्पन्न तनाव से उनकी शरीर वृद्धि, दुग्ध उत्पादन एव प्रजनन क्षमता मे गिरावट होने लगती है। जिसके कारण पशुपालकों को आर्थिक नुकसान होता है। इसके साथ–साथ पशु की दैहिक क्रियाओं के घटने व बढ़ने से पशु असामान्य महसूस करने लगता है। जिसके कारण पशु की पुनः उत्पादन क्षमता, मादा जननांगों में अण्डाणुओं की कमी, अण्डाणु परिपक्वताए अण्डाणुओं का पूर्ण विकसित न होना, भ्रूण का विकास न होना तथा नर पशुओं में वीर्य उत्पादन व गुणवत्ता घटने लगती है। इसलिए उचित आवास तथा खान–पान में परिवर्तन कर पशुओं को अधिक गर्मी से होने वाले विपरित प्रभाव से बचाया जा सकता है। पशु को अधिक गर्मी से बचाकर निम्नलिखित लाभ हो सकते हैं।

1. पशु की चारा व दाना खाने की क्षमता बढ़ती है।
2. पशु की दुग्ध उत्पादन क्षमता बढ़ती है।
3. मादा पशु समय से गर्मी मे आती है।
4. मादा पशु की गर्भधारण क्षमता बढ़ जाती है।
5. मादा पशु बार–बार ऋतुमयी नहीं होती ।
6. मादा मे भ्रूणीय मृत्यु दर में कमी आती है।
7. पशु व्यवहार सामान्य रहता है।
8. नर पशु की वीर्य उत्पादन क्षमता बढ़ती है।
9. नर पशु मे शुक्राणुओं की संख्या में वृद्वि हाती है।
10. नर व मादा औसत दिनों में ही परिपक्व होते हैं।
11. बच्चे की वृद्वि दर में गिरावट नहीं होती है।
12. बच्चों की अल्प आयु में मृत्यु दर घट जाती है।

तालिका 1: विभिन्न पशुओं का सामान्य गुदा तापमान) नाडी व श्वसन गति

पशु	तापमान (डिग्री फारेनहाईट)	नाडी गति (प्रति मिनट)	भवसन गति (प्रति मिनट)
गाय व्यस्क	101– 102	40– 60	12 – 16
भैंस व्यस्क	101 – 102	40 – 60	12 – 16
बच्चे, गाय, भैंस	101.5 – 103.5	80 – 100	20 – 25
बकरी	103 – 104	55 – 57	20 – 30

दुधारू गायों एव भैंसों का सामान्य गुदा तापमान 101.5 डि. फा. होता है परन्तु जब पशु का तापमान सामान्य से अधिक या कम होता है, तब पशु को शरीर के तापमान को नियमित रखने के लिये अलग से ऊर्जा की

आवश्यकता होती है। लेकिन गर्मी के कारण पशु कम खाता है, जिसके कारण उत्पादन के लिए उपलब्ध ऊर्जा पशु शरीर को नियमित करने मे खर्च हो जाती है। जिसके कारण पशु का उत्पादनए विकास व वृद्धि दर कम हो जाती है। पशुओं में अधिक गर्मी के लक्षणों का निम्नलिखित को देख कर पता लगाया जा सकता है।

1. पशु शरीर का तापमान सामान्य से बढ़ जाता है।
2. पशु कम खाना शुरू कर देता है।
3. पशु शरीर में पसीने के कारण पानी की कमी हो जाती है।
4. पशु की भवसन गति सामान्य से बढ़ जाती है और पशु हाफने लगता है।
5. पशु की हृदय गति सामान्य से बढ़ जाती है।
6. पशु शरीर मे खून का संचार बढ़ जाता है।
7. पशु के अन्दर बनने वाले हारमोन की सान्द्रता नियमित नहीं रह पाती है।
8. पशु पानी अधिक ग्रहण करता है।
9. दुग्ध उत्पादन घटने लगता है।
10. पशु की प्रजनन क्षमता प्रभावित होती है।

पशु शरीर ताप संचय ज्ञात करने का तरीका एवं सूत्र

1. पशु शरीर ताप संचय = उपाचयी गर्मी ± संघनन ± संवहन ± विकिरण ± वाष्पीकरण शरीर तापमान स्थिर होने के लिए, उष्मा हानि व उष्मा संचय की मात्रा का अनुपात समान रहना चाहिए, इसको निम्नलिखित सूत्र द्वारा भी दर्शाया जा सकता है
2. उष्मा हानि = उष्मा उत्पादन ± वातावरणीय ताप पशुओं पर गर्मी तनाव को निम्न सूत्र द्वारा भी ज्ञात किया जाता है।

   तापक्रम आर्द्रता सूचकांक (THI) = (0.72 शुष्क बल्ब तापक्रम डिग्री से0 + नम बल्ब तापक्रम डिग्री से0) + 40.6

   इस सूत्र द्वारा उपलब्ध आंकड़ा अगर 72 से नीचे है, तो यह दर्शाता है कि पशु गर्मी तनाव में नहीं है। अगर यह संख्या 72 से 75 के बीच है तो पशु पर हल्का तापीय प्रभाव है और यदि यह संख्या 75 से अधिक है तो तापिय प्रभाव बहुत अधिक होता है।

अत्यधिक गर्मी से बचने के उपाय

पानी की उपलब्धता– पानी गर्मी तनाव को कम करने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यदि पर्याप्त मात्रा में शरीर के अन्दर पानी है तो पशु गर्मी के समय मे शरीर तापमान को संतुलित बनाये रखता है और पशु पर गर्मी का प्रभाव कम होता है। एक स्वस्थ पशु को लगभग 100 ली पानी प्रतिदिन उपलब्ध होना चाहिए

सन्तुलित आहार– दुधारू पशुओं के शरीर भार के अनुसार इसकी आवश्यकताओं जैसे जीवन निर्वाहए विकास तथा उत्पादन आदि के लिये भोजन के विभिन्न तत्व जैसे प्रोटीन, कार्बोहाईड्रेट, वसा, खनिज लवण, विटामिन तथा पानी की आवश्यकता होती है। पशु को 24 घन्टों में खिलाया जाने वाला आहार (चारा़दाना), जिसमें पशु की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतू सभी भोज्य तत्व मौजूद हो, पशु आहार कहते हैं और जिस आहार मे सभी आवश्यक पोषक तत्व उचित अनुपात तथा मात्रा में उपलब्ध हो तो उसे संतुलित आहार कहते हैं। गर्मी के समय

यदि पशु को उपरोक्त आहार उसकी आयु, वजन, उत्पादन और जीवन निर्वाह की आवश्यकतानुसार दिया जाये, तो पशुओं पर गर्मी तनाव कम होता है।

पशु आवास– गर्मी के दिनों में पशु आवास गर्मी तनाव को कम करने का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यदि पशु गृह हवादार हो, जिसमें हवा आने व जाने का उचित प्रबन्ध हो या पशु गृह को यान्त्रिक विधियों द्वारा ठंडा करने की व्यवस्था हो, तो पशु तनाव को काफी हद तक कम किया जा सकता है। जिसके कारण पशु स्वास्थ व उत्पादन सामान्य बना रहता है।

छाया– गर्मी तनाव से पशुओं को बचाने के लिये पेड़ की छाया सबसे उत्तम है। गर्मी के समय पशु को छाया में बांधकर रखने से गर्मी के विपरित प्रभाव को काफी हद तक कम कर सकते हैं।

यान्त्रिक यन्त्रों द्वारा ठंडा करना– पंखों या फव्वारों द्वारा पशुशाला के तापमान को लगभग 15 डिग्री फा. तक कम किया जा सकता है। यदि पशुशाला को उपरोक्त विधि द्वारा ठंडा करते हैं तो पशु तनाव कम कर पशु उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। पशुशाला के अन्दर जो पंखे प्रयोग मे लाये जाते हैं उनका आकार 36 से 48 इंच और जमीन से लगभग 8 फीट ऊँची दीवार पर 30 डिग्री (उर्द्धवाधर) लगाना चाहिये। इस विधि द्वारा भी पशु तनाव को कम किया जा सकता है।

वाष्पीकरण द्वारा ठंडा करना– इस विधि मे पंखें उष्मीय कुलिंग पेड़ और पंप द्वारा जो कि पानी को प्रसारित करके दबाव के साथ–साथ पानी की छोटी–छोटी बूंदों में बदलकर पशुओं के उपर छिड़काव करके गर्मी के विपरित प्रभाव को कम किया जा सकता है।

कुलर– पशुशाला में कुलर लगभग 20 फीट की जगह को ठंडा कर देता है इस विधि में कूलर हवा को ठन्डी करके छोटी–छोटी बूंदों के साथ पशुओं के उपर भेजता है। इस विधि से पशु तापमान कम होने के साथ–साथ पशुशाला भी ठंडी हो जाती है जिससे गर्मी तनाव कम होता है।

तालाब– पशुशाला के आस–पास यदि तालाब है तो गर्मी के समय पशु को तालाब में नहलाने पर पशु शरीर तापमान कम होता है और गर्मी तनाव से पशु को बचाया जा सकता है। कृत्रिम रूप से तालाब बनाने पर तालाब की लम्बाई 80 फीट, चौडाई 50 फीट व गहराई 4–6 फीट होनी चाहिए। इसके साथ–साथ पानी निकासी व स्वच्छ पानी की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

रोग प्रबन्धन– पशुओं की समय–समय पर अच्छे पशु चिकित्सक से जांच करवाकर टीका–करण करवाना चाहिए ताकि पशु स्वस्थ रहे। यदि पशु का स्वास्थय ठीक रहेगा तो पशुओं को तनाव भी कम होगा और उसके ऊपर गर्मी का प्रभाव भी कम रहेगा।

अनचाहे पशु का निष्कासन– पशु बाड़े से अनुपयोगी पशुओं के निष्कासन करने से उन पर होने वाले खर्च को दुसरे संसाधनों, बाड़े के अन्दर सुविधाओं आदि पर खर्च करके पशु तनाव कम किया जा सकता है।

गाय/भैंसों के उत्पादन पर गर्मी का प्रभाव एवं पशुपालन व्यवसाय को सफल बनाने हेतु मुख्य बातें

बी. एस. मीणा

भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल

पशुओं में पर्यावरण तापमान सहन करने की एक सीमा होती है। इस तापक्रम सीमा के अन्दर एक ऐसी तापक्रम सीमा होती है जिसमें पशुओं से अधिकतम उत्पादन लिया जा सकता है। इसे थर्मोन्यूट्रल जोन के नाम से जाना जाता है। तापमान की यह सीमा पशुओं के स्वास्थ्य और उनके अच्छे विकास के लिये अनुकूल होती है। कुछ पर्यावरणीय कारक जो गर्मी तनाव को बढ़ाने में योगदान करते हैं। इनमें तापमान, उच्च आर्द्रता और दीप्तीमान ऊर्जा (धूप) शामिल हैं। गर्मी तनाव को सामान्यतः उस बिन्दु से परिभाषित किया जा सकता है, जहाँ पर पशु अपने शरीर की गर्मी को पर्याप्त मात्रा में शरीर से नहीं निकाल पाते और जिसके कारण पशु शरीर का तापमान संतुलन बिगड़ जाता है। पर्यावरण स्थिति, जिसमें तापमान आर्द्रता सूचकांक का उपयोग करके गर्मी तनाव को परिकलित किया जा सकता है। तापमान आर्द्रता सूचकांक को परिकलित करने के लिये निम्नलिखित समीकरण का इस्तेमाल किया जा सकता है। तापमान आर्द्रता सूचकांक त्र 0.72 {शुष्क बल्ब तापमान (डिग्री से0)+ आर्द्र बल्ब तापमान (डिग्री से0)}+40.6

जब तापक्रम आर्द्रता सूचकांक 72 या इससे कम होता है तो पशु आरामदायक स्थिति में होता है। जब यह सूचकांक 75–78 तक होता है तो पशु पर गर्मी का प्रभाव कम होता है, लेकिन जब यह सूचकांक 80 या इससे अधिक होता है तो पशु पर अत्यधिक गर्मी का प्रभाव होता है तथा उत्पादकता विपरीत रूप से प्रभावित होती है।

गर्मी तनाव के परिणामस्वरूप पशुओं में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ते है, जो निम्नलिखित हैः

- शरीर तापमान में बढ़ोत्तरी (> शारीरिक तापमान 102.5° डिग्री फारेनहाईट से ऊपर)
- श्वसन दर में बढ़ोत्तरी (>70–80/मिनट से अधिक)
- ऊर्जा की आवश्यकता में वृद्धि, पशुओं में अत्यधिक गर्मी के समय तापक्रम नियंत्रण तंत्र सक्रिय हो जाता है, जो अतिरिक्त गर्मी को नष्ट कर बाहर निकाल शरीर का सामान्य तापमान बनाये रखने में मदद करता है, उदाहरण के लिये श्वसन दर में बढ़ोत्तरी। गर्मी तनाव के दौरान पशुओं में ऊर्जा की आवश्यकता 20–30 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। त्वचा के रक्त प्रवाह में वृद्धि होती है, जो शारीरिक गर्मी को नष्ट करने में साहयता करती है। इस समय शरीर के विभिन्न आन्तरिक अंगों मे रक्त प्रवाह कम हो जाता है।
- **पोषक तत्वों का उपयोगः–** गर्मी–तनाव के दौरान सामान्य तत्व, सोडियम, पोटाशियम और बाइकार्बोनेट इत्यादि की मात्रा कम हो जाती है। इस कमी के कारण पशुओं की श्वसन दर में वृद्धि होती है। इससे अम्ल और क्षार संतुलन में बदलाव आ सकता है और परिणामस्वरूप उपापचय क्षारीय हो सकता है, और जिसके कारण पोषक तत्वों के पाचन उपयोग की दक्षता में कमी आ सकती है।
- **शुष्क पदार्थ का सेवनः–** गर्मी–तनाव के दौरान डेयरी पशुओं में शुष्क भोजन की मात्रा घट जाती है, यह अवसाद गर्मी–तनाव की अवधि के आधार पर अल्पकालिक या दीर्घकालिक हो सकता है।
- **दुग्ध उत्पादनः–** गर्मी–तनाव के दौरान दुधारू पशुओं का दुग्ध उत्पादन सामान्यतः घट जाता है। यह कमी अस्थायी या लंबी अवधि तक हो सकती है, इसका आकलन गर्मी तनाव की गंभीरता के आधार पर किया जा सकता है। दुग्ध उत्पादन में यह कमी 10 से 25 प्रतिशत तक हो सकती है।

- **प्रजननः–** गर्मी–तनाव की वजह से दुधारू पशुओं की प्रजनन क्षमता में भी कमी पाई गयी है। पशुओं में यह प्रभाव लंबे समय तक हो सकता है। जिसके फलस्वरूप गायों में निम्नलिखित कमियाँ हो सकती हैंः–

1. मदकाल अवधि का समय और तीव्रता कम हो जाती है।
2. गर्भाधान की दर प्रजनन में कमी।
3. डिब्बग्रंथि की वृद्धि, आकार और विकास में कमी।
4. गर्भित पशुओं में भ्रूण मौत का खतरा बढ़ जाता है।
5. भ्रूण के विकास और आकार में कमी।

गर्मी–तनाव के प्रभाव की गंभीरता का निर्धारण

गर्मी–तनाव की गंभीरता का प्रभाव निम्न कारकों की तीव्रता पर निर्भर करता है, जो निम्नलिखित हैः–

- वास्तविक तापमान और आर्द्रता।
- गर्मी तनाव की अवधि।
- रात का तापमान।
- वायु संचार और हवा का प्रवाह।
- पशु का आकार।
- गर्मी–तनाव के पहले दुग्ध उत्पादन और शुष्क भोजन की मात्रा के सेवन का स्तर।
- पशुशाला–प्रकार, वायु संचार, भीड़–भाड़ आदि।
- जल उपलब्धता।
- पशु की जाति/प्रजाति।
- पशु की त्वचा का रंग हल्के रंग की त्वचा वाले पशु सूर्य के प्रकाश को कम अवशोषित करते हैं)।

गर्मी प्रभाव को कम करने के उपाय

दुधारू पशुओं में गर्मी–तनाव के प्रभाव को कम करने के प्रमुखतया दो विकल्प होते हैं;

1. राशन समायोजन
2. वातावरण समायोजन

1. राशन समायोजनः– राशन समायोजन का मुख्य लक्ष्य राशन को समायोजित कर ऊर्जा और प्रोटीन की मात्रा में वृद्धि करना है, जो पशु के स्वास्थ्य और रूमेन वातावरण को सामान्य बनाये रखते हैं। राशन में अनाज (दाना) की मात्रा को बढ़ाया जाता है और चारे की मात्रा को कम किया जाता है। यह बदलाव रूमेन की अम्लरक्तता को प्रेरित करेगा और पशु के स्वास्थ्य में सुधार होगा।

- यदि संभव हो तो उच्च गुणवत्ता वाले चारे का चयन करें।
- राशन में रेशों (एडीएफ, एनडीएफ) की मात्रा जिसमें प्रभावकारी रेशा सामान्य रहता है, इसलिए बिना रेशे वाले उत्पाद का इस्तेमाल करना चाहिए जैसे–सोयाबीन का छिलका चुकन्दर का गुदा या संतरे का गुदा।
- राशन में कुछ अतिरिक्त वसा की मात्रा बढ़ाई जानी चाहिए जो सूखे राशन का 5–6 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

- अच्छे चारे का चयन करें जो जानवरों में एक उच्च पाचन शक्ति का कार्य करती है। यह पशुओं में पोषक तत्वों से उत्पन्न गर्मी को कम करती है।
- संतुलित राशन प्रोटीन स्तर, रूमेन में सड़ा सकने वाली प्रोटीन और घुलनशील प्रोटीन के उच्च स्तर को कम करता है। पशु शरीर से अतिरिक्त प्रोटीन को शरीर से निकालने के लिये अधिक ऊर्जा को व्यय करते हैं।
- बफर सोडियम बाइकार्बोनेट, मैग्नीशियम ऑक्साईड और सोडियम कार्बोनेट को पशुओं के भोज्य पदार्थों में मिलाकर रूमेन के सामान्य वातावरण को नियंत्रित रखा जा सकता है।
- रक्त के पोटाशियम के स्तर को ध्यान में रखना चाहिए जो कि गर्मी से प्रभावित पशुओं में ज्यादा नुकसान करता है, इसलिये राशन में पोटाशियम एवं मैग्नीशियम स्तर को बढ़ाने की भी आवश्यकता होती है।
- राशन के लिये खमीर या खमीर कल्चर के चारे को बढ़ाने से कुछ लाभ हो सकता है।

चारा प्रबन्धन

चारा प्रबन्धन प्रथाओं का इस्तेमाल करके भी गर्मी तनाव के प्रभावों को कम किया जा सकता है, इनमें से कुछ निम्नलिखित हैः–

1. ताजा स्वादिष्ट, उच्च गुणवत्ता वाला अधिकतम चारा पशुओं को खिलाना चाहिए, यदि खोर में चारा गर्म, बासी या खराब है तो उसे हटा देना चाहिए।
2. राशन मिश्रित और दैनिक आधार पर समान रूप से वितरित कर रहे हैं।
3. सभी गायों को एक ही समय में चारा दिया जाना चाहिए।
4. यदि पशु राशन की छटाई करके खा रहे हैं, तो चारे में कुछ पानी मिला देने से चारा अच्छी तरह से मिश्रित हो जाता है।
5. यदि पशुओं के चारा खाने के समय में बदलाव किया जाये तो पशु प्रातः काल, सांय काल, रात्रि समय में ठंड के समय अधिक चारा खाता है।

जल प्रबन्धन

1. क्या पानी पीने वाले उपकरणों में स्वच्छ और ताजा पानी होता है।
2. वहाँ पर पशुओं के लिये पर्याप्त पानी है।
3. वहाँ पर गायों के समूह के लिए एक से अधिक जगह पर पानी की व्यवस्था होनी चाहिए।
4. गर्मी–तनाव के दौरान पशुओं में पानी की खपत 20 से 50 प्रतिशत तक बढ़ सकती है, इसलिये पानी की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

वातावरण समायोजन

1. क्या पशुओं का आवास भीड़–भाड़ वाला है? यदि हाँ, तो क्या भीड़–भाड़ को कम किया जा सकता है।
2. क्या सभी पशुओं के लिये छाया उपलब्ध है? छाया सूर्य विकिरण के प्रभाव को कम कर देती है।
3. क्या पशुओं के आवास क्षेत्र में वायु प्रवाह है, और अधिक सुविधा के लिए अधिक वायु संचार की आवश्यकता होगी। कई मामलों में हवा का प्रवाह बढ़ाने के लिये पंखों की आवश्यकता होगी।

पशुपालन व्यवसाय को सफल बनाने हेतु मुख्य बातें

भारत का गो जातीय आबादी विश्व में प्रथम स्थान पर हैं। विश्व की 15 प्रतिशत से अधिक गो वंश भारत में हैं। भारत का दुग्ध उत्पादन में सर्वोच्च स्थान है। इसके बावजूद प्रति पशु दुग्ध उत्पादन बहुत निम्न है जो विश्व के दुग्ध उत्पादन 2038 किलोग्राम/ब्यात की तुलना में केवल 987 किलोग्राम/ब्यात हैं। इसका मुख्य कारण निम्न स्तर की आनुवंशिक क्षमता, खराब स्वास्थ्य देखभाल एवं कुपोषणता है। वर्ष 2012 की पशुगणना के अनुसार भारत में कुल 5120.50 लाख मवेशी है, जिसमें से 1909 लाख गो वंशीय (गाय) व 1087 लाख महिशवंशीय (भैंस) हैं। इसमें दुधारू पशु 8052 लाख हैं जिनका कुल दुग्ध उत्पादन में योगदान 132.40 लाख टन है।

दुधारू पशुओं का चयन

- बैंक के तकनीकी अधिकारी/पशु चिकित्सक आदि की सहायता से स्वस्थ्य एवं अधिक उत्पादन वाला पशु ही खरीदना चाहिए।
- हाल ही में बच्चा दिये 2 अथवा 3 ब्यांत के पशु को ही खरीदना चाहिए।
- पशु खरीदने से पहले लगातार 3 समय के दूध को निकालकर देख लेना चाहिए।
- खरीदे गये पशु के कान में टैग अथवा टैटोइंग लगवा देना चाहिए।
- खरीदे गये पशु को तुरन्त रोगों से बचाव के टीके लगवाने चाहिए।
- नये खरीदे गये पशुओं को लगभग दो सप्ताह तक अलग रखना चाहिए और इसके बाद ही इन्हें दूसरे पशु के साथ मिलाना चाहिए।
- पशुओं को दो बैच में खरीदना चाहिए। दूसरा बैच पहले से 5–6 महीने बाद खरीदना उचित रहता है।
- भैंस को जुलाई से फरवरी के मध्य खरीदना ठीक रहता है क्योंकि इन महिनों में भैंसें ज्यादा ब्याति हैं।
- पुराने पशुओं की 6 ब्यांत के बाद छंटनी कर देनी चाहिए तथा कम उत्पादक अथवा अनुत्पादक पशुओं की भी समय–समय पर छंटनी करते रहना चाहिए तथा उनकी जगह नये पशुओं को रखना चाहिए।

उत्तम गाय एवं भैंस के लक्षण

- दुधारू पशु का शरीर सुसंगठित तथा लम्बा होना चाहिये।
- उसका शरीर त्रिकोणाकृतिक हो।
- पशु सीधे स्वभाव का होना चाहिये, वह सिर से मारने वाला न हो।
- पशु के अयन का विकास एवं फैलाव अच्छा तथा पिछली टाँगों के बीच ऊपर एवं पीछे की ओर अधिक होना चाहिए।
- पशु के थन समान लम्बाई के एवं समान दूरी पर होने चाहिये।
- दुग्ध शिरायें उभरी हुई, टेढ़ी–मेढ़ी तथा संख्या में अधिक हों।
- पशु का अयन दूध निकालने के बाद सिकुड़ जाना चाहिए।
- पशु की त्वचा पतली, ढीली, मुलायम एवं चमकीली हो व बाल भी मुलायम हों।
- पशु शुद्ध जाति का हो और उसका ब्यांत काल 290 से 310 दिन का हो।
- पशु के दो ब्यांत का अन्तराल 12 या 13 माह से अधिक न हों।

गायों की मुख्य नस्लें

भारत में गायों की 34 जानी पहचानी वर्णित नस्लें हैं। गायों की डेरी नस्लें (साहीवाल, लाल सिन्धी, गीर, राठी) एवं द्वि–उद्देश्य नस्ले जो दुग्ध एवं कृषि कार्यों के लिये उपयुक्त हैं) (हरियाणा, कान्क्रेज, ओन्गोल, देवनी, थारपारकर) जो दुग्ध उत्पादन के लिए भारत में प्रयोग की जाती हैं। कुछ संश्लेषित नस्लें, जो विदेशी नस्लों से संकरण द्वारा उत्पन्न की गई है जैसे कर्ण फ्रिज, कर्ण स्विस, फ्रीजवाल, सुनन्दिनी आदि भी अधिक दुग्ध उत्पादन के लिये प्रसिद्ध हैं। भारत में तीन वर्णनात्मक या मान्यता प्राप्त गायों की नस्लें हैं। यह नस्लें बोस–इन्डीकस समूह में आती हैं क्योंकि इस समूह की गायों में कूबड़ एक बड़ी विशेषता हैं। भारतीय गो वंश को उनकी उपयोगिता के आधार पर तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। जो क्रमशः दुधारू नस्लें, दुधारू व जुताई कार्य में प्रयुक्त नस्लें एवं जुताई कार्य में प्रयुक्त नस्लें। भारतीय गायों की त्वचा एवं आंतरिक शरीर में कुछ ऐसी अद्वितीय विशेषताएं होती हैं जो प्रतिकूल जलवायु की भी सहने की क्षमता रखती हैं।

भैंसों की मुख्य नस्लें

भैंसों की मुख्यतः आठ डेरी नस्लें हैं– मुर्रा, नीली–रावी, भदावरी, जार्फराबादी, सुरती, मेहसाना, नागपुरी एवं बन्नी। दूध देने के अतिरिक्त भैंसों का उपयोग गाड़ी खींचना, हल चलाना व अन्य कृषि कार्य करने में किया गया हैं। कुछ नस्लों की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के बारे में नीचे चर्चा की गई है।

नस्ल सुधार हेतु चयनात्मक प्रजनन

दूध उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि के लिए डेरी एवं द्वि–उददेशीय नस्लों में चयनात्मक प्रजनन अति आवश्यक है। मध्यम निवेश डेरी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न परिभाषित नस्लों के गो पशु किसानों द्वारा प्रजनन क्षेत्रों में पाले जाते हैं। गायों का चुनाव संभावित उत्पादन क्षमता अथवा प्रजनन मान पर आधारित होना चाहिए। लगभग 20–25 प्रतिशत गायों की प्रति वर्ष छंटनी होनी चाहिए एवं इतनी ही प्रति वर्ष गाय प्रति स्थापित भी होनी चाहिए।

युवा सांड का चयन उनकी मादा एवं दादी की दुग्ध उत्पादन क्षमता पर आधारित अपेक्षित भविष्य, कामुक प्रवृति, वीर्य गुणवत्ता एवं प्रशीतन क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए। सन्तति परीक्षण में सम्मिलत सांडों के प्रजनन कमान का आंकलन उनकी सन्तति की निष्पादन क्षमता के आधार पर किया जाना चाहिए। श्रेष्ठ एवं परीक्षित सांडों का वीर्य संगठित गो पशु समूहों में युवा सांड उत्पादन के लिये किया जाता है जिन्हें बाद में सन्तति परीक्षित कार्यक्रमों में सम्मिलत किया जा सकता है। भारत में चयनात्मक प्रजनन गुजरात में गीर तथा कंकरेज, राजस्थान में राठी व थारपारकर, हरियाणा, पंजाब तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरियाणा तथा आन्ध्र प्रदेश में ओन्गोल के चयनित सांडों का प्रयोग किया जाना चाहिए। चयनित प्रजनन द्वारा 1–2 प्रतिशत आनुवंशिक विकास दर प्रतिवर्ष प्राप्त होती है, जिसे भ्रूण प्रत्यारोपण द्वारा लगभग दोगुणा किया जा सकता है।

उच्च निवेश उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत भैंसें अधिकतर सरकारी एवं गैर–सरकारी संगठित फार्मों पर रखी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछेक साधन सम्पन्न व्यवसायिक कृषक भी भैंसों का उत्पादन गहन प्रणाली के अन्तर्गत करते हैं। भैंसों के आनुवंशिक विकास के लिए विभिन्न नस्लों के सन्तति परीक्षित उन्नत सांडों का प्रयोग इस प्रणाली में जरूरी है। उत्कृष्ट प्रजनक सांडों के उत्पादन के लिए मौजूदा संगठित फार्मों पर मुर्राह, सुरती, नीली–रावी, नागपुरी, भदावरी तथा जाफराबादी भैंसों की नस्लों को और सुदृढ़ करने की आवश्यकता है। सन्तति परीक्षण के लिए किसानों की भैंसों को भी कार्यक्रम में शामिल करना चाहिए। संक्षेप में यह निष्कर्ष निकलता है कि देश में भैंसों के आनुवंशिक विकास के लिए वहां के कृषि–जलवायु एवं उपलब्ध संसाधनों को

दृष्टि में रखते हुए विभिन्न दुग्ध उत्पादन प्रणालियों के अनुसार ही प्रजनन नीतियों का चुनाव करना चाहिए ताकि वांछित आनुवंशिक वृद्धि दर प्राप्त हो सके।

पशुओं में ऋतुमति के लक्षण (पशुओं के गर्मी में होने के लक्षण)

पशुओं को उनके ऋतुमति लक्षण के आधार पर तीन भागों में बांटा जा सकता हैं।

1	कड़ी गर्मी वाले पशु	ऋतुमति के लक्षण बहुत ही स्पश्ट होते हैं।
2	बीच की गर्मी वाले पशु	ऋतुमति के लक्षण साधारण किस्म के होते हैं।
3	चुपी गर्मी वाले पशु	ऋतुमति के लक्षण स्पश्ट नहीं होते हैं।

भारतीय भौगोलिक कृषि व जलवायु स्थिति में अधिकतम पशु चुप्पी किस्म के होते हैं। अतः किसान भाईयों को चाहिए कि वे अपने पशुओं को निम्नलिखित ऋतुमति (गर्मी) के लक्षणों को जानें।

- जब पशु ऋतुमति अवस्था में होता हैं तो उसके सम्पूर्ण शरीर में एक विशेष परिवर्तन आ जाता है। ऐसी हालत में पशु चिल्लाना, दौड़ना व भागने की कोशिश करना इत्यादि का लक्षण प्रकट करता हैं।
- उसकी आंखों में एक विशेष चमक आ जाती हैं और ऐसा लगता हैं जैसे उसको किसी की तलाश हो, उसके कान खड़े व हमेशा चौकन्नी होती है। उसको अपने खाना खाने व दूसरे काम में अपेक्षाकृत कम दिलचस्पी होती हैं यहाँ तक की दूध देने वाले पशुओं का दुग्ध उत्पादन बहुत कम हो जाता है।
- जब पशु अधिक संख्या में होते हैं तो ऋतुमति पशु अपने आप को दूसरे पशु समूह से अलग रहने की कोशिश करती और दूसरे पर कूदती है।
- जब ऋतुमति पशु अपने ऊपर कूदने पर हटता नहीं बल्कि दूसरे पशु को अपने ऊपर कूदने देते हैं तो पशुओं के ऋतुमति की इस अवस्था को स्थिर–ऋतुमति या ''स्टैण्डिग'' हीट कहते हैं। यह लक्षण ऋतुमति के लिए बहुत ही अच्छा होता हैं
- ऋतुमति पशु के बाहरी योनि में एक विशेष चिकनाहट फूला–फुलाब लसीलापन आ जाता है और इससे योनि में से एक साफ शीशा जैसा पारदर्शक रस्सी जैसा तीढ़ गिरता हैं जिसे हम योनि द्रव कहते हैं। पशुओं के विशेष कर बैठने पर यह द्रव साफ दिखाई पड़ता हैं।
- दूध देने वाले पशु ''डोका'' करते हैं। इस अवस्था में पशु का अयन फुला हुआ रहता है व ऐसा लगता है कि यह पशु पोसने की अवस्था में हैं तथा दूध का उत्पादन भी काफी कम हो जाता है।

वैसे तो सालभर पशु ऋतुमति होती हैं लेकिन पशुओं के ऋतुमति होने पर मौसम का प्रभाव भी होता है। देसी नस्ल के पशु बसन्त व हल्की गर्मी ऋतु से अपेक्षाकृत जाड़े से बसन्त ऋतु में अधिक पाया जाता है। लक्षणों की तीव्रता में मदचक्र के समय के साथ–साथ परिवर्तन होता रहता है।

पशुओं को गर्भित कब करायें ?

ग्रामीण विकास के लिए आवश्यक है कि पशुओं की उत्पादन क्षमता बढ़ाई जाए। प्रति वर्ष बच्चे का उत्पादन पशु जनन–उत्पादन क्षमता का द्योतक व किसानों के आय का स्रोत होता हैं लेकिन इन पशुओं का गलत समय पर गर्भित (हरी) कराना ही उनके बांझपन का कारण हो जाता है। हालांकि उनके बांझपन के बहुत से कारण होते हैं परन्तु उचित समय पर अपनी गायों को गर्भित करवा करके हम इनके बांझपन को काफी हद तक रोक सकते हैं।

बछिया–"भारतवर्ष में हो रहे श्वेत कान्ति" में संकर प्रजनन एक क्रान्तिकारी कदम हो गया है। अतः संकर नस्ल की बछिया में जल्दी ही गर्म होने के लक्षण दिखने लगते हैं। हालांकि अपनी देसी नस्ल की बछियों में यह लक्षण देरी से दिखते हैं।

पशुओं में गर्म होने के जो पहले लक्षण होते हैं उनको हम पशुओं की अल्पवयस्कता की उम्र (प्यूबर्टी) कहते हैं। इस अवस्था में इन्हें गर्भित नहीं कराया जा सकता क्योंकि इस स्थिति में पशुओं में जननांग पूर्ण विकसित नहीं होते। पशुओं का जननांग पूर्ण रूप से उनकी पूर्ण व्यस्क अवस्था पर ही विकसित होते हैं। यह अवस्था उनकी नस्ल, उम्र व शारीरिक वृद्धि पर निर्भर करती है।

पशुओं का शारीरिक विकास उनके स्वास्थ्य एवं आहार पर निर्भर करता है। अतः हमें चाहिये कि हम अपने पशुओं में शुरू से ही उनके उचित आहार, टीका व चिकित्सा आदि पर ध्यान दें। शुरू में उन पर अगर हम ध्यान नहीं देते तो उनका शारीरिक विकास एवं जनन–अंगों का विकास ठीक से नहीं होता। जिसका कुप्रभाव उनको बांझ तक बना देती हैं।

हमें इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि पशु उचित उम्र तक अवश्य गर्भित हो जायें। अन्यथा उम्र गुजर जाने के बाद अगर हम इसे गर्भित कराते हैं तो हो सकता है कि इनके डिम्ब कोष में खराबी (सीसटिक ओबरी) आ जाए जिससे उनमें बांझपन आ जाने का डर रहता है।

गाय–अच्छे पशुओं में ऋतुमति का पहला लक्षण उनके प्रसव के कुछ दिनों के बाद आ जाता है लेकिन जिन पशुओं में प्रसवकाल के समय कोई गड़बड़ी जैसे बच्चा उलझना जेर का देर में निकलना हो या प्रसव काल के बाद उनके आहार पर ध्यान नहीं देने से उनकी ऋतुमति लक्षण में देरी हो जाती है।

पशुपालकों को चाहिए कि अपने पशुओं को प्रसव के 45 दिन से 75 दिन के बीच अवश्य गर्भित करा लें क्योंकि यह अनुभव किया गया है कि प्रसव के 45 दिन से पहले गर्भित कराने से अधिकतर पशु गर्भित नहीं हो पाते और गर्भित हो भी जायें तो बच्चे गिर जाने का भय बना रहता हैं दूसरी तरफ बच्चों में उनके 75 दिन बाद ऋतुमति के लक्षण खत्म होने लगते हैं। अगर पशुओं के प्रसव के समय या बाद में कोई गड़बड़ी हो तो कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र से तकनीकी सहायता प्राप्त करें।

टीजर बुल– जिस पशुपालक के पास पशुओं की संख्या अधिक होती है, तो उनको चाहिए कि वे एक बढ़िया टीजर बुल रखें। यह बढ़िया टीजर बुल जिनकी नस कटा (वसेक्टोमाईज्ड) होता हैं। इस प्रकार के सांड चुप्पी किस्म की गर्मी (ऋतुमति) को आसानी से खोज निकालने में मदद देते हैं। हालांकि अब पशुओं के ऋतुमति को ढूँढने की कई नई विधियां खोजी जा रही हैं।

ऋतुमति के लक्षण कब ढूँढे

वैसे तो पशुपालकों को चाहिए कि वे अपने प्रत्येक पशुओं पर रात–दिन व्यक्तिगत ध्यान दें। लेकिन अगर इतना नहीं हो सकता तो कम–से–कम दिन में दो बार सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय अवश्य उसमें ऋतुमति लक्षण के आधार पर खोजें और हो सके तो बढ़िया टीजर बुल की भी मदद लें।

एक ही ऋतुमति में दो बार हरी (गर्भित) करायें

पशुओं में ऋतुमति का एक चक्र होता है जिसे ऋतुमति चक्र कहते हैं। यह चक्र लगभग 21 दिनों का होता है लेकिन यह अनुभव किया गया है कि भारतीय जलवायु में संकर विशेषकर होल्सटीन फ्रिजियन शंकर में कभी–कभी 48 घंटे तक ऋतुमति होती है और मादा पशु का डिम्ब ऋतुमति के खत्म होने के करीब 12 घंटे के बाद डिम्बकोष से निकलता है परन्तु नर–पशु के वीर्य का शुक्राणु मादा की बच्चेदानी में सिर्फ 24 घंटे तक

ही जिन्दा रहता है। अतः अच्छे होल्सटीन–फ्रिजियन संकर को ऋतुमति में 24 घंटे के अन्तर से दो बार हरी (गर्भित) करने के लिये अपने पास के किसी भी कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र पर लाऐं। जब आपके पशु शाम या रात को गर्म हो तो आप उन्हें दूसरे दिन सुबह हरी (गर्भित) करायें। इससे उनमें गर्भ ठहरने का अवसर अधिक मिलता है। सुबह ऋतुमति हो तो पशु को उसी दिन शाम में गर्भित कराऐं।

रिकॉर्ड (ब्योरा)– पशु पालकों को चाहिए कि वे अपने प्रत्येक पशु का निम्नलिखित रिकार्ड किसी रजिस्टर में रखें और आवश्यकता पड़ने पर सविस्तार बतायें। इससे पशु चिकित्सक को आपके पशु के बारे में उचित निर्णय लेने में सहायता मिलेगी। पशु की जाति व नम्बर या नाम, उसके माता व पिता की जाति व नम्बर या नाम, जन्म की तारीख, जन्म का वज़न, पहले ऋतुमति की तारीख व समय, गर्भाधान पूर्ण वयस्कता की उम्र, ऋतुमति की तारीख, किस जाति के सांड के वीर्य से हरी कराई, गर्भ जाँचने की तारीख व उसका गर्भ ठहरने के लिए कितनी बार हरी कराई, प्रसव के बाद पहली हरी कराने की तारीख इत्यादि।

प्रजनन सम्बन्धी सामान्य समस्याओं का समाधान

पशु के समय–समय पर गर्मी के लक्षणों पर सही ध्यान रखते हुए गर्मी की अवस्था जानने की कोशिश करनी चाहिए। कटड़ियां एवं बछड़ियां अगर क्रमशः 2 या 3 साल की उम्र में गर्मी में आना शुरू नहीं करती तो इस दशा को देर से परिपक्वता कहा जाता है। इसके लिए पशु का परीक्षण करना जरूरी हो जाता है जिससे कि पशु के प्रजनन अंगों के विकास एवं प्रक्रिया को मालूम करते हुए उचित इलाज समय पर ही किया जा सके। प्रायः अण्डाशय का सही विकास न होने की दशा में खनिज लवणों के पाउडर खिलाने के साथ–साथ विटामिन 'ए' के टीके भी जो कि विटासैप्ट, प्रोपेलिनफोर्ट आदि नामों से मिलते हैं, लगाए जाते हैं। अण्डाशय का विकास बहुत ही कम होने की दशा में कुछ हार्मोन के टीके भी प्रायः लगाए जाते हैं। पशु में गर्मी चक्र शुरू होने पर वह औसतन हर 21 दिन; 18–22 दिन में गर्मी में आता रहता है और गर्भित होने की अवस्था तक यह चक्र जिसे मद चक्र कहा जाता है, चलता रहता है। यह मुख्यता पशु के डिम्ब पुटक से सावित होने वाले इस्ट्रोजन व डिम्ब पर ही बनने वाले कारपस ल्यूटियम से सावित होने वाले प्रोजेस्ट्रोन द्वारा नियंत्रित होता हैं। गर्मी में आने वाले दिन से लेकर 17वें दिन तक की अवधि तो ल्यूटल अवस्था व 17 दिन से 21 दिन को दोबारा गर्मी में आने तक को पुटक अवस्था कहा जाता हैं। ल्यूटल अवस्था में करीब चौथे या पांचवें दिन कॉर्पस ल्यूटियम डिम्ब में बनता हैं। पशु के गर्भित न हो पाने की स्थिति में गर्भाशय से ल्यूटोलाइसिन नामक तत्व स्त्रावित होता है जो कारपस ल्यूटियम को विलयन करता हैं। इस प्रक्रिया को ल्यूटिओलाईसिस कहा जाता है लेकिन गर्भाशय से ल्यूटेलाइसिन स्राव न हो पाने की हालत में कारपस ल्यूटियम समाप्त न होकर विकसित ही होता हैं और पशु में गाभिन पशु की तरह प्रोजेस्ट्रोन साव होता रहता है और गर्मी चक्र बन्द हो जाता है। इस अवस्था की पहचान योग्य पशु चिकित्सक द्वारा अण्डाशय निरीक्षण करने पर हो पाती हैं। कई चिकित्सक इसे अंगूठे के जरिए अण्डाशय पर से तोड़ कर भी पशु का इलाज करते हैं लेकिन सही वैज्ञानिक तरीके के अनुसार स्थिर कारप सल्यूटियम इस तरह तोड़ने की बजाय पशु में ल्यटोलाइसिन की पूर्ति के लिए आवश्यक हार्मोन का इंजेक्शन लगाना ज्यादा उचित समझा जाता हैं जिससे कि पशु कम से कम दिन के अन्दर ही गर्मी में आना शुरू कर देता है। इसके लिए पशु चिकित्सक से सम्पर्क करना आवश्यक है।

पशु का बार–बार गर्मी में आना

पशु के गाभिन न होने की अवस्था में वह बार–बार गर्मी में आता रहता है यह नियमित व अनियमित चक्र दोनों में ही हो सकता है।

नियमित चक्र : नियमित चक्र से गर्मी में आने वाले पशुओं में अंडे का उचित विकास न होना या गर्भाशय के संक्रमण होने की सम्भावनाएं होती हैं। इस दशा में पशु के गर्भाशय में दवाई रखी जाती है। अंडे का उचित विकास न होने या उसे न निकलने की दशा में फोलीगोन उत्तेजक हारमोन एवं कोरूलोन हारमोन के टीके क्रमशः लगाए जाते हैं। ये टीके सिर्फ पशु चिकित्सक से निरीक्षण कर उन्हीं के द्वारा लगवायें जाने चाहिए।

अनियमित चक्र से बार–बार गर्मी में आना

अगर पशु 20–22 दिन के अन्तराल की बजाए कम या ज्यादा दिनों में गर्मी में आता है तो यह अनियमित चक्र ठीक करना गर्भाधारण हेतु अनिवार्य हो जाता है। चूंकि यह आमतौर पर अण्डाशय पर रसौली बन जाने की वजह से होता हैं जिसके लिए पशु को टीके लगाने होते हैं। आमतौर पर पशु में गर्मी चक्र की अनियमितता व प्रजनन क्षेत्र में जीवाणुविक संक्रमण दोनो समस्याएं साथ–साथ भी मिलती हैं ऐसी अवस्था में पशु को दोनों ही बातों के लिए उपर्युक्त इलाज करना जरूरी हो जाता हैं। पशुपालकों के लिए यह भी आवश्यक हैं कि प्रजनन रोग से ग्रस्त पशु को कुशल ईलाज से शीघ्र चिकित्सा करायें।

पशुओं में गर्भपात

पशुओं में गर्भधारण करने के बाद किसी भी अवस्था में भ्रूण की मृत्यु किसी कारणवश हो जाने से उसे बच्चेदानी से बाहर निकालना आवश्यक हो जाता है या अपने आप बच्चा गिर जाता है जिसे गर्भपात कहते हैं। कम अवस्था में गर्भ का नष्ट होना सामान्यतः लोगों को पता नहीं चलता है और गाय के पुनः गर्म होने पर यही समझा जाता है कि वह गाभिन हुई ही नहीं थी। दो से तीन महीने के बाद वाली अवस्था में गर्भपात होने का पता लोगों को चल पाता है।

कारण : गाय या भैंस में गर्भपात होने के कई कारण हैं, जिसमें विभिन्न संक्रामक रोग मुख्य हैं। पशुओं में ब्रुसेलोसिस नाम की एक बीमारी होती है जिसके कारण गाभिन पशु अधिकांशतः 6 से 9 महीने के बीच में गर्भपात कर देता है। इसी प्रकार ट्राइकोमोनीएसीस बीमारी के कारण भी भ्रूण की मृत्यु हो जाती है किन्तु अधिकांश गर्भ कम अवस्था में नष्ट हो जाता हैं और पशु की बच्चेदानी रोगग्रस्त होने में उसमें पीप जमा हो जाता है। योनि रोग के अलावा कई ऐसे सामान्य रोग हैं जिसमें मुख्य लक्षण गर्भपात होने की सम्भावना होती है। कुछ रसायनिक पदार्थ, विषैले पौधे, आहार में किसी खास तत्व की कमी एवं हारमोन इत्यादि भी गर्भपात का कारण बन सकते हैं। एडवांस गर्भित अवस्था की स्थिति में पशु के गिरने, लड़ जाने या कोई गहरी चोट लगने से भी गर्भपात होने की सम्भावना रहती है।

लक्षण : पशुओं में गर्भपात यदि गर्भावस्था के 5 से 6 महीने के बाद हो तो इसका लक्षण आमतौर पर वही होता जो एक गाय या भैंस में बच्चा देने के समय लक्षण देखे जाते हैं किन्तु यदि गर्भपात कम अवस्था में हो तो योनि द्वार सूज जाता है और उससे एक रक्त युक्त स्राव निकलने के साथ ही गर्भपात हो जाता हैं। गर्भपात 4 से 5 महीने के दौरान होने से जेर कभी समय पर नहीं निकलती है इसलिए गर्भाशय की सफाई एवं उपयुक्त ईलाज कराना चाहिए।

आर्थिक हानि : गाय भैंस के गर्भपात होने से किसान को आर्थिक हानि बहुत होती है। पशुओं के बच्चे की हानि होती है। इसके अलावा गर्भ गिराये हुए पशुओं की बच्चेदानी रोगग्रस्त हो जाती हैं और गाय काफी दिनों तक बांझ भी रह सकती है। गर्भपात के बाद पशुओं के दूध न देने की अवधि में उनके रख–रखाव पर अनावश्यक खर्च किसान को उठाना पड़ता है। यदि गर्भपात के कारण कोई ऐसा रोग हो जो साथ के दूसरे पशु को भी हो जाए तो यह भी किसान के लिए आर्थिक हानि है।

इलाज एवं रोकथाम : पशुओं के गर्भपात का लक्षण शुरू होने के बाद इलाज के द्वारा उसे दबाना सम्भव नहीं होता। अतः किसान को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि उनके पशु उन कारणों से अलग रहें जिनमें गर्भपात की सम्भावना हो इसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

1. पशु का बाड़ा साफ–सुथरा रहना चाहिए। उस जगह पर हर 10–15 दिनों पर कीटनाशक दवा छिड़कनी चाहिए।
2. गाभिन पशु की देखभाल पर चुस्ती रखनी चाहिए। गाभिन पशु जब चरने जाए तो ध्यान रखें कि दूसरे जानवर लड़ न जाऐं अथवा कहीं फिसल कर गिर न जाए।
3. पशु जब गर्म हो तो सदा पशु चिकित्सालय में ले जाकर कृत्रिम तरीके से गर्भाधान कराए। गाँव के छुट्टा सांड से हरी कराने पर गाय में योनि रोग फैलने की सम्भावना रहती है जिससे गाभिन होने के बाद गर्भपात हो सकता है।
4. जब किसी पशु में गर्भपात हो जाए तो किसान उसकी सूचना शीघ्र निकट के पशु चिकित्सालय में देकर गर्भपात के लक्षण का पता लग जाने पर भविष्य के लिए पशु चिकित्सक की सलाह का पालन करना चाहिए। गर्भ निकलने के बाद बच्चे और जेर को भी मिट्टी के नीचे दवा देना चाहिए तथा बाड़े को कीटनाशक दवा से अच्छी तरह साफ कर देना चाहिए।
5. जिस पशु में गर्भपात हो गया हो उसे तीन चार महीने तक गाभिन नहीं कराना चाहिए। उसे पशु चिकित्सक से जांच एवं चिकित्सा कराते रहना चाहिए। बच्चेदानी की जांच के बाद यदि कोई ईलाज की आवश्यकता हो तो उसका पालन करना चाहिए। ऐसे पशु को पुनः गाभिन कब कराया जाए इसकी सलाह भी पशु चिकित्सक से करनी चाहिए।

सोलेनेसी वर्गीय सब्जियों में लगने वाले प्रमुख कीटों का एकीकृत प्रबन्धन

सुजय पाण्डेय एवं बी. के. दूबे

राष्ट्रीय बागवानी अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान,
क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र सलारू, करनाल (हरियाणा)

इस वर्ग के अन्तर्गत टमाटर, आलू, बैंगन, मिर्च एवं शिमला मिर्च आती हैं। इसमें लगने वाले प्रमुख कीट जैसे सफेद मक्खी, लीफ माइनर, टमाटर की फल छेदक, बैंगन का तना एवं फल छेदक कीट, हड्डा विटिल, माहु, तम्बाकू की सूंडी, पीली माइट (यैलो माइट) इत्यादि कीड़े फसलों को नुकसान पहुंचाते हैं जिसकी रोकथाम करके फसल में होने वाले नुकसान को कम किया जा सकता है।

(1) सफेद मक्खी

इस कीट का प्रकोप टमाटर, बैंगन एवं मिर्च की फसलों पर होता है। इस कीट के वयस्क तथा शिशु दोनों ही नुकसान पहुँचाते है। ये पौधों की पत्तियों से रस चूसते है। जिससे पत्तियाँ पीली पड़ जाती है और पौधे की वृद्धि रूक जाती है। जिससे उपज काफी प्रभावित होती है यह कीट पौधों में विषाणु रोग भी फैलाते है। इसका वयस्क 1.0 से 1.5 मिली मीटर लम्बा तथा पीले रंग का होता है। इस कीट की मादा पत्तियों की निचली सतह पर अण्डे देती हैं।

रोकथाम

(1) थायोमेथाक्जाम 25 डब्ल्यू. जी. 0.5 ग्राम/लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करें।

(2) इमिडाक्लोराप्रिड का 0.5 मिली लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करें।

(3) स्टिकी ट्रैप का प्रयोग 20–25 पीस प्रति हैक्टर की दर से प्रयोग करें।

(2) पर्णसुरगंक कीट (लीफ माइनर)

इस कीट का प्रकोप टमाटर, मिर्च, बैंगन एवं शिमला मिर्च में होता है। इस कीट के कारण पौधों के किनारे की पत्तियों में इसका प्रकोप ज्यादा होता है। इसके कारण पत्तियों में टेढ़ी–मेढ़ी सुरंग बन जाती है और ये पत्तियों के हरे भाग को खाकर नष्ट कर देते हैं।

रोकथाम

(1) इसकी रोकथाम के लिए नत्रजन की समुचित मात्रा का उपयोग करें।

(2) कीड़ों का लक्षण दिखते ही पत्तियों को तोड़कर गड्ढें में दबा देना चाहिए।

(3) स्पाईनोसेड 0.1 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

(4) ट्राइजोफॉस 0.2 मिली लीटर की दर से पानी में घोलकर छिड़काव करें।

(3) टमाटर का फल छेदक कीट

इस कीट का प्रकोप टमाटर, मिर्च एवं शिमला मिर्च में होता है। इस कीट को चने की इल्ली भी कहते हैं। इसकी सूंडियाँ कच्चे एवं पके टमाटर में गोल छेद बनाकर उसके गूदे को खाती है तथा ये सूंडियाँ आधी फल के अन्दर एवं आधी बाहर लटकी रहती हैं। इनसे फसल को काफी नुकसान होता है। ये जिस फल में सुराख बना देती है उस पर फँफूंदी का प्रकोप आसानी से हो जाता है और पूरा फल सड़ जाता है। इस कीट की

मादा कोमल पत्तियों, फूलों एवं फल के ऊपर अण्डे देती हैं। 12–15 दिनों तक अण्डे से सूंडियाँ निकलती हैं। पूर्ण विकसित सूंडी जमीन के अन्दर प्यूपा अवस्था में चली जाती है। प्यूपा अवस्था 10–15 दिनों की होता है। उसके बाद वयस्क कीट निकलते हैं। इस कीट का प्रौढ़ भूरे रंग का होता है। इसके पंख पर भूरे रंग की तिरछी धारियाँ होती हैं एवं निचले पंख पर काली शिरायें पाई जाती हैं।

रोकथाम

(1) पौध को समय से लगाना चाहिए न ज्यादा अगेती और न ही पछेती लगाए।

(2) फेरोमोन ट्रैप 15 पीस/हैक्टर की दर से लगाए।

(3) एच. एन. पी. वी. (250 एल.ई) तथा 800 मिली लीटर का 800 लीटर पानी में घोल बनाकर 15–20 दिन के अन्तराल पर दो–तीन छिड़काव करें।

(4) ट्राइकोग्रामा किलोनिस के 50000 अण्डे प्रति है. की दर से फूल आने की अवस्था में प्रति सप्ताह के अन्तराल पर 4–6 बार प्रयोग करें।

(5) रायनाक्सीपीर 0.3 मिली/लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव करें अथवा डेल्टामेथ्रीन 1.0 मिली/लीटर पानी की दर से घोल बनाकर छिड़काव करें।

(4) बैंगन का तना एवं फल छेदक कीट (Shoot and fruit borer)

इस कीट के द्वारा बैंगन की फसल को काफी नुकसान होता है। इस कीट की सूंडियाँ कोमल तनों एवं शाखाओं में बारीक सुराख बनाकर उसमें प्रवेश कर जाती है। जिससे ऊपर की शिरायें मुरझा जाती हैं। पौधे पर जब फल आने लगते हैं तब ये सूंडियाँ फलों के अन्दर प्रवेश करके उनको खाती हैं। जिसके कारण फल टेढ़ा हो जाता है और ऊपज में काफी कमी आ जाती है और ऐसे फलों को बाजार भाव भी कम मिलता है।

रोकथाम

(1) ग्रसित टहनियों एवं शाखाओं को काटकर मिट्टी में दबा देना चाहिए।

(2) कार्बोसल्फान 25 ई.सी. 2 मिली/लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें।

(3) फोरोमोन ट्रैप में ल्यूसिनल्योर 20–25 पीस प्रति हैक्टर की दर से लगाये।

(4) फसल–चक्र अपनाएं।

(5) खेत के चारों तरफ 5–6 फीट ऊँची जमीन की सतह से जालीदार नेट लगाना चाहिए। क्योंकि इसकी मादा 4–5 फीट ऊँची ही उड़ सकती है। इस प्रकार उसको रोक करके इनकी संख्या को कम किया जा सकता है।

(6) रायनाक्सीपीर (कोरोजेन) 0.3 मिली/लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें।

(5) हड्डा विटिल

यह कीट टमाटर आलू, बैंगन की फसल को काफी नुकसान पहुँचाता है। इस कीट के ग्रब और वयस्क दोनों ही फसल को नुकसान करते हैं। ये पत्तियों की ऊपरी सतह को खाते हैं। पत्तियों पर फीते की तरह संरचनाएं दिखाई देती हैं। अधिक प्रकोप होने पर पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं और केवल तना ही दिखायी पड़ता है। वयस्क भृंग के ऊपर 14 काले धब्बे पाए जाते हैं। इन धब्बों के किनारे पर पीले रंग का घेराव होता है। मादा कीट मार्च से अप्रैल तक पत्तियों के नीचे गुच्छों में 300–400 अण्डे देती हैं। अण्डों से 4–6 दिन बाद ग्रव

निकलते है। ग्रव 8–15 दिन में पत्तियों के अन्दर प्यूपा में परिवर्तित हो जाते हैं। प्यूपा अवस्था 5–15 दिनों का होता है। इसके बाद इसमें से भृंग निकलते हैं।

रोकथाम

(1) कीट के अण्डे एवं प्यूपा को पकड़कर नष्ट कर देना चाहिए।

(2) ग्रसित पत्तियों को इकट्ठा करके गड्ढे में दबा देना चाहिए।

(3) इसके नियंत्रण के लिए कार्बोसल्फान 2 मिली/लीटर पानी में घोलकर इकट्ठा छिड़काव करें।

(4) प्रोफेनोफॉस 2 मिली/लीटर पानी में घोलकर छिड़काव अथवा साइपरमेंथ्रिन 0.5 मिली/लीटर पानी की दर में छिड़काव करें।

(6) माहू या चेपा

माहू सभी प्रकार की सब्जियों की फसलों को क्षति पहुँचाता है। इसे चेपा, लाही, तेला आदि नामों से भी जानते हैं। इसका आकार 2.0–2.5 मिली मीटर तथा चौडाई 1.0–1.5 मिली मीटर, इसका रंग कई प्रकार का होता है। टमाटर, बैंगन, मिर्च एवं आलू आदि पर हरा या सफेद चूर्ण लगा माहू दिखायी देता है। इस कीट के शिशु तथा पौढ़ दोनों पौधों के कोमल भागों से रस चूसकर नुकसान पहुँचाते हैं। इसके कारण पौधे की बढ़वार रूक जाती है और उत्पादन बुरी तरह प्रभावित होता है। इन कीटों से चिपचिपा पदार्थ निकलता है। जिससे पौधों में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया प्रभावित होती है। यह पौधों में विषाणु बीमारी को भी फैलाती है।

रोकथाम

(1) फसल के पास से जंगली खरपतवार को नष्ट कर देना चाहिए।

(2) अगेती फसल लेनी चाहिए।

(3) लेडीवर्ड वीटिल जैसे परभक्षी कीटों में सक्रियता के समय कीटनाशको का छिड़काव नहीं करना चाहिए।

(4) इमिडाक्लोरप्रिड का 1.0 मिली/लीटर पानी की दर से छिड़काव करना चाहिए।

(5) डाइमेथोएट का 1.0 मिली/लीटर पानी की दर से छिड़काव करना चाहिए।

(7) तम्बाकू की सूंडी

इस कीट के द्वारा मिर्च, शिमला मिर्च, टमाटर आदि फसलों को नुकसान होता है। इस कीट की सूंडी पत्तियों को खाती है। कभी–कभी इनकी संख्या बढ़ जाने पर ये तनों एवं फलों को भी खा जाती हैं। इसका प्रौढ़ पत्तियों की निचली सतह पर झुण्ड में अण्डे देती है। 2–5 दिनों के बाद अण्डों से सूंडी निकलती है और सूंडी 15–20 दिनों में पूर्ण विकसित हो जाती है और जमीन के अन्दर जाकर प्यूपा में बदल जाती है। इस कीट का जीवन–चक्र 25–35 दिनों का होता है।

रोकथामः–

(1) फेरोमोन ट्रैप 10–15 पीस प्रति हैक्टर की दर से लगाए।

(2) एस. एन. पी. वी. (250 एल.ई) एक किलोग्राम गुड़ एवं 800 मिली टीपाल को पानी में घोलकर एक सप्ताह के अन्तराल पर छिड़काव करें।

(3) प्रोफेनोफॉस 2.0 मिली/लीटर पानी की दर से घोल बनाकर छिड़काव करें अथवा क्लोरपायरिफॉस 2.0 मिली/लीटर पानी की दर छिड़काव करें।

(8) पीली माईट

इसका प्रकोप मिर्च, शिमला मिर्च में होता है। यह पीले रंग की होती है इसकी पीठ पर सफेद धारियाँ होती हैं, यह बहुत छोटी होती है। इसको सामान्य तथा आंख से नहीं देखा जा सकता है। इसका प्रकोप होने पर ऊपर की पत्तियाँ सिकुड़ जाती हैं। इस कीट के शिशु तथा प्रौढ़ दोनों ही पत्तियों का रस चूसते हैं। इसका अधिक प्रकोप होने पर पौधे की बढ़वार रूक जाती है एवं फल–फूल कम बनते हैं और ऊपज काफी कम हो जाती है।

रोकथाम

(1) सल्फर 10 प्रतिशत को 20–25 किलोग्राम/हैक्टर की दर से बुरकाव करना चाहिए।

(2) डायकोफाल 1.0 मिली/लीटर पानी में।

(3) ओमाइट (प्रोपरगाइट 57 प्रतिशत ईसी) का 1.0 मिली/लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करना चाहिए।

बदलते जलवायु परिवेश में गेहूँ के बीज उत्पादन की उन्नत तकनीक

अमित कुमार शर्मा, संजय कुमार सिंह, अनिल खिप्पल, लोकेन्द्र कुमार एवं राजकुमार
भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001 (हरियाणा)

प्रस्तावना

भारत में धान के बाद गेहूँ दूसरी प्रमुख खाद्यान्न फसल है परंतु विश्व–स्तरीय कृषि में गेहूँ का प्रथम स्थान है। गुणवत्ता बीज का उत्पादन एवं उपलब्धता किसी भी फसल की उपज क्षमता को बढ़ाने में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक है। वर्तमान परिदृश्य में कृषि क्षेत्र के प्रौद्योगिकी विकास में बीज को वाहक के रूप में जाना जाता है। व्यापक रूप से बीज का अर्थ रोपण या उत्पादन के उद्देश्य के लिए प्रयोग की जाने वाली किसी भी पादप सामग्री (जैसे सत्य, बीज, जड़ें, कंद, तना, शाखाएं, बल्ब, इत्यादि) से है। हालांकि वानस्पतिक रूप से, निशेचित परिपक्व बीजाणु को बीज कहा जाता है। वर्तमान में राष्ट्रीय बीज निगम, भा.कृ.अनु.प. के संस्थान, कृषि विश्वविद्यालय, कृषि विज्ञान केन्द्र, राज्य बीज निगम, राज्य कृषि विभाग, निजी कृषि कंपनियों, सहकारी समितियों और व्यक्तिगत उन्नत किसानों के द्वारा प्रमाणित/टीएल बीजों का उत्पादन एवं वितरण किया जा रहा है। बदलते जलवायु परिवेश में गेहूँ की किस्म का चुनाव करते समय परिस्थिति, जलवायु एवं उत्पादकता के आधार पर किया जाना चाहिए जिससे बीज की गुणवत्ता एवं उत्पादकता अधिक होने के साथ–साथ अपेक्षाकृत अधिक लाभ होता है।

बीज के प्रकार

भारत में बीज की पाँच श्रेणियाँ; नाभिकीय, प्रजनक (सुनहरी टैग), आधारीय, प्रमाणित एवं विश्वसनीय (सत्य) बीज (हरा टैग) होती है। जिसकी विशिष्ट आनुवंशिक पहचान/शुद्धता एवं भौतिक शुद्धता, प्रमाणित बीज के निर्धारित मानकों के अनुसार बनाए रखी जाती हैं। प्रमाणित एवं विश्वनीय बीज ही किसानों को वितरित किया जाता है। प्रमाणित बीज को प्रमाणित बीज से बनाया जा सकता है परंतु इसकी संतति आधार बीज चरण–एक से तीन पीढ़ियों से अधिक नहीं होनी चाहिए।

प्रमाणित बीज उत्पादन के तकनीकी पहलू

खेत का चुनावः बीज उत्पादन के लिए उपजाऊ एवं जल निकासी की समस्याओं से मुक्त भूमि का होना अच्छा माना जाता है। अधिक ऊँचाई पर, विशेष रूप से पहाड़ी क्षेत्रों में स्वयं उद्भवित गेहूँ के पौधे एक समस्या हैं। ऐसे मामलों में स्वयं उगने वाले पौधों को समाप्त करने हेतु पर्याप्त देखभाल अच्छी गुणवत्ता के बीज के उत्पादन को सुनिश्चित करने के लिए करना चाहिए। मिट्टी जनित रोगों की कम संभावना वाले खेतों का चुनाव करना चाहिए।

किस्मों का चुनावः बीज उत्पादन के लिए क्षेत्र, जलवायु एवं परिस्थिति के अनुसार नई उन्नत किस्मों (15 वर्षों से कम पुरानी) का ही चयन करना चाहिए।

उत्तर पश्चिम मैदानी क्षेत्रः पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान (कोटा और उदयपुर संभागों को छोड़कर) पश्चिमी उत्तर प्रदेश (झांसी मंडल को छोड़कर), हिमाचल प्रदेश (ऊना व पोंटा घाटी), जम्मू–कश्मीर के कुछ हिस्सों (जम्मू और कठुआ जिले), और उत्तराखंड (तराई क्षेत्र) में सिंचित अवस्थाओं तथा समय से बुवाई के लिए उन्नत किस्मों जैसेः डब्ल्यू बी–02 (2017) एचडी 3086 (2014), डीबीडब्ल्यू–88 (2014), डब्ल्यूएच 1105 (2013), एचडी 2967 (2011), डीपीडब्ल्यू 621–50 (2011), डीबीडब्ल्यू 17 (2006), पीबीडब्ल्यू 550 (2008) तथा पीबीडब्ल्यू 502 (2003), सिंचित अवस्थाओ में देर से बुवाई के लिए एचडी–3059 (2013), डब्ल्यूएच 1124 (2014), डीबीडब्ल्यू 90 (2014), डीबीडब्ल्यू 71 (2013) डब्ल्यू एच 1025 (2010), पीबीडब्ल्यू 90 (2009), डब्ल्यूएच 1021 (2008),

डीबीडब्ल्यू 16 (2005) तथा वर्षा आधारित या सीमित सिंचाई वाले क्षेत्रों में समय से बुवाई के लिए उपयुक्त किस्मों जैसेः एचडी 3043 (2012), डब्ल्यूएच 1080 (2011), पीबीडब्ल्यू 644 (2012) का प्रयोग करना चाहिए।

उत्तर पूर्वी मैदानी क्षेत्रः– पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, असम और पूर्वोत्तर के मैदानी क्षेत्रों में सिंचित अवस्थाओं में समय से बुवाई के लिए एचडी 2967 (2014), डीबीडब्ल्यू 39 (2010), सीबीडब्ल्यू 38 (2009), राज 4120 (2008), के 307 (2007), एचडी 2824 (2003), एनडब्ल्यू 5054 (2014) तथा के 1006 (2014) एवं सिंचित अवस्थाओं में देर से बुवाई के लिए डीबीडब्ल्यू 107 (2015), एचडी 3118 (2015), एचआई 1563 (पूसा प्राची) (2011), एनडब्ल्यू 2036 (2003) तथा डीबीडब्ल्यू 14 (2003) का प्रयोग करना चाहिए।

संरक्षित खेती में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के लिए अगेती बुआई के लिए उपयुक्त एचडी सीएसडब्ल्यू 18 (2016) तथा देरी से बुआई के लिए उपयुक्त एचडी 3117 (2016) किस्मों को बीज उत्पादन के लिए चुनें।

बीज का स्रोत एवं टैग की जानकारी :– प्रमाणित बीज (आसमानी नीला रंग का टैग), आधारीय बीज (सफेद रंग का टैग) अथवा प्रमाणित बीज से उत्पन्न बीज की श्रेणी हैं बीज फसल के लिए उपयुक्त बीज सही श्रेणी का तथा विश्वसनीय स्रोत से होना चाहिए। बीज के बैग पर बीज के प्रकार के अनुसार टैग एवं अन्य जानकारी देखकर ही बीज की पहचान की जानी चाहिए। बीज के नमूनों की जांच रिपोर्ट (अंकुरण क्षमता 85 प्रतिशत से अधिक) 6 महीनों से अधिक नहीं होनी चाहिए।

बीज का प्रमाणीकरणः– बीज अधिनियम 1966 की धारा 5 के तहत बाजार में बेचा गया ऐसा बीज. जिस पर अधिनियम की धारा 6 (क) एवं (ख) की अंतर्गत निर्धारित बीज लेबल लगाया गया हो और उसे लेबल बीज कहा जाता हैं। बीज अधिनियम के अनुसार, बीज की लेबलिंग अनिवार्य है लेकिन प्रमाणीकरण स्वैच्छिक है। बीज के प्रमाणीकरण के लिए निम्न प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है।

बीज के स्रोत, वर्ग और बीज की फसल को ऊपर उठाने के लिए प्रयोग किया जाता बीज की अन्य आवश्यकताओं का सत्यापन रसीद और आवेदन की जांच प्रसंस्करण और पैकिंग सहित कटाई के बाद बीज के नमूनों का आहरण एवं बीज मानकों के अनुरूप सत्यापित करने के लिए विश्लेषण के लिए व्यवस्था और प्रमाण–पत्र देने, प्रमाणीकरण टैग का मुद्दा है। लेबलिंग, सील आदि बीज प्रमाणीकरण संस्था द्वारा आवेदन की जांच के बाद, बीज स्रोत, वर्ग और बीज फसल को ऊपर उठाने के लिए इस्तेमाल किया। बीज की अन्य आवश्यकताओं के सत्यापनय मानकों के अनुरूप सत्यापित करने बाध्य निर्धारित मानकों के अनुरूप सत्यापित करने के क्रम में आनुवं परीक्षण और प्रमाण पत्र और प्रमाण पत्र टैग, टैगिंग और सिलाई के बाद प्रमाणीकरण की प्रक्रिया पूरी करनी पड़ती है । टैग के निम्न विवरण अंकित होना अति आवश्यक है जिसमें फसल का नामः प्रजाति (किस्म) का नामः बीज की श्रेणीः जाँच की तिथि, आनुवंशिक पहचान एवं भौतिक शुद्धता (न्यूनतम) प्रतिशत अक्रिय पदार्थ प्रतिशत, अंकुरण प्रतिशत, वजन भरते समयः लॉट संख्याः उत्पादन करने वाली संस्था का नाम एवं पताः आदि।

5. बीज मानक

अवयव	मानक	
	आधार बीज	प्रमाणित बीज
शुद्ध बीज (न्यूनतम)	98.00 प्रतिशत	98.00 प्रतिशत
अक्रिय पदार्थ (अधिकतम)	2.00 प्रतिशत	2.00 प्रतिशत
अन्य फसलों के बीज (अधिकतम)	10 प्रति कि0ग्रा0	20 प्रति कि0ग्रा0
कुल खरपतवारों के बीज (अधिकतम)	10 प्रति कि0ग्रा0	20 प्रति कि0ग्रा0

आपित्तजनक खरपतवारों के बीज (अधिकतम)	2 प्रति कि0ग्रा0	5 प्रति कि0ग्रा0
करनाल बंट से ग्रस्त बीज (अधिकतम)	0.05 प्रतिशत	0.25 प्रतिशत
इयर कोकल व टुंडू से ग्रसित बीज	कोई नहीं	कोई नहीं
अंकुरण (निम्नतम)	85 प्रतिशत	85 प्रतिशत
नमी (अधिकतम)	12 प्रतिशत	12 प्रतिशत
वाष्परोधक कन्टेनर मे नमी (अधिकतम)	8 प्रतिशत	8 प्रतिशत

6. बीज उपचारः 2.5 ग्राम विटावेक्स (75 डब्ल्यूपी) या 2.5ग्राम कार्बेडजीम (50 डब्ल्यूपी) नमक कवकनाशी से प्रति किलोग्राम बीज को उपचारित कर बोना चाहिए ।

7. बीज दर बुआई की विधिः उच्च अंकुरण क्षमता वाले 85–90 किलोग्राम बीज प्रति हैक्टर की दर जिसमें पौधों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा कम से कम हो तथा बीज के अच्छे विकास के लिए सिफारिश की है। बीज फसल को छिट्टे की बजाय कतारों में लगाना चाहिए, इससे फसल का निरीक्षण व रोगिंग प्रक्रिया में आसानी होगी।

8. पृथक्करण दूरीः गेहूँ के प्रमाणित बीज उत्पादन में आनुवंशिक शुद्धता बनाए रखने के लिए एक किस्म से दूसरी किस्म की न्यूनतम पृथक्करण दूरी 3.0 मीटर रखना चाहिए।

9. अवांछित पौधों एवं खरपतवारों को निकालनाः प्रमाणित बीज उत्पादन में आनुवंशिक शुद्धता बनाए रखने के लिए बीज फसल में प्रायः दो बार निरीक्षण किया जाता है। प्रमाणीकरण अधिकारी भिन्न पौधों के साथ–साथ कंगियारी व ग्रसित पौधों के लिए, भी निरीक्षण करते हैं। उत्तम बीज उत्पादन में अवांछित पौधों (भिन्न दिखने वाले पौधे) एवं खरपतवारों को निकालना बहुत जरूरी है। यह प्रजातीय शुद्धता बनाए रखने में अति महत्त्वपूर्ण है। निष्कासित पौधों को खेत में नही छोड़ना चाहिए।

10. बीज फसल की कटाई व संसाधनः कम्बाईन हारवेस्टर अपमिश्रण का बहुत बड़ा कारण होता है। बीज संसाधन व पैकिंग के समय उचित सावधानियाँ अपनाकर यांत्रिक अपमिश्रण से बचाव किया जा सकता है। कम्बाईन हारवेस्टर को अच्छी तरह से साफ करके उचित नमी पर ही (12–14 प्रतिशत) बीज फसल की कटाई की जानी चाहिए और यदि बीज फसल को कम क्षेत्रफल पर लगाया गया हो तो हाथ से कटाई करना उचित रहता है।

11. बीज प्रसंस्करणः सभी प्रकार के बीजो की भौतिक शुद्धता को बनाए रखने के लिए बीज प्रसंस्करण एक अति महत्त्वपूर्ण एवं सावधानी से की जाने वाली प्रक्रिया है। बीज का प्रसंस्करण स्वचालित बीज प्रसंस्करण इकाई या गतिशील बीज प्रसंस्करण इकाई के द्वारा ही की जानी चाहिए जिससे बीज में अपमिश्रण की संभावना काफी कम रह जाती है। बीज प्रसंस्करण के उपरांत बीज को जूट के बैग में डालकर सिलाई कर देनी चाहिए।

12. बीज की बोरो में पैकिंग एवं टैगिंगः बीज की उसकी श्रेणी (विभिन्न एवं बिक्री के हिसाब से प्रिंटेड बोरो (प्रायः 40 किलोग्राम) में भरकर उस पर विवरण अंकित होना चाहिए।

टैग संख्याः ..... फसलः .....

किस्म ..... बीज की श्रेणी .....

लॉट संख्या) ..... जाँच की तारीख .....

भौतिक शुद्धता (न्यूनतम प्रतिशत) ..... आनुवंशिक शुद्धता (न्यूनतम प्रतिशत) .....

अवशिष्ट पदार्थ प्रतिशत) ..... अंकुरण प्रतिशत .....

वैधता की तिथि ..... शुद्ध वजन (किलोग्राम) .....

उत्पादन करने वाली संस्थाः .....

13. भंडारणः कटाई के उपरांत खेतों से प्राप्त बीज में नमी की अनुकूलतम प्रतिशत 9–10 प्रतिशत होने पर ही बीज को भंडारण के लिए सुरक्षित माना जाता है। यदि बीज में नमी की प्रतिशत मात्रा 11 से अधिक है तो बीज को सुखाकर नमी 9–10 प्रतिशत तक रखनी चाहिए। बीज भण्डार का बीच बीच में निरीक्षण करके उपचारित करते रहना चाहिए। भंडारण के बीज के उपचार के लिए एल्युमीनियम फास्फाईड नामक प्रधूमक द्वारा 9 ग्राम मात्रा/टन के हिसाब से उपचारित करना चाहिए।

14. आपेक्षित उपजः गेहूँ का बीज गुणन अनुपात (एसएमआर) 20 होता है। परन्तु गेहूँ की बीज फसल से 30–35 कुंतल/हैक्टर तक शुद्ध बीज प्राप्त किया जा सकता हैं। जिसमें से 10–12 प्रतिशत बीज प्रसंस्करण के दौरान भौतिक अशुद्धि निकल जाती है।

लवणग्रस्त मृदाओं में सतत उत्पादन के लिए सुधार एवं फसल प्रबंधन

आर. के. यादव

भा.कृ.अनु.प.–केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल (हरियाणा)

भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ की लगभग 60 प्रतिशत जनसंख्या परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से खेती पर निर्भर करती है। भारत की कुल भूमि के 47 फीसदी हिस्से (143 मिलियन हैक्टर) पर खेती की जाती है। कृषि की दृष्टि से वैश्विक स्तर पर मृदा लवणता एक गंभीर समस्या है। शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्रों में जहाँ पर निक्षालन हेतु पर्याप्त वर्षा का अभाव रहता है वहाँ पर यह विकराल समस्या बनी हुई है। भारत में लवणग्रस्त क्षेत्र विभिन्न प्रदेशों में फैले हुए है। देश में लवण प्रभावित भूमि गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, हरियाणा, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों में पाई जाती है जिसका क्षेत्रफल लगभग 6.7 मिलियन हैक्टर है (तालिका 1)। कुल लवण प्रभावित मृदाओं का लगभग 56 प्रतिशत भाग क्षारीयता एवं 44 प्रतिशत भाग लवणीयता के अन्तर्गत आता है। क्षारीयता की समस्या से सर्वाधिक प्रभावित, सिंधु–गंगा का मैदानी क्षेत्र है जो कि अधिक उपजाऊ है।

तालिका 1: भारत के विभिन्न राज्यों में लवण ग्रस्त मृदाओं का क्षेत्रफल (हैक्टर)।

राज्य	लवणीय मृदा	क्षारीय मृदा	कुल लवण ग्रस्त मृदा
गुजरात	1680570	541430	2222000
उत्तर प्रदेश	21989	1346971	1368960
महाराष्ट्र	184089	422670	606759
पश्चिम बंगाल	441272	0	441272
राजस्थान	195571	179371	374942
तमिलनाडु	13231	354784	368015
आंध्र प्रदेश	77598	196609	274207
हरियाणा	49157	183399	232556
बिहार	47301	105852	153153
पंजाब	0	151717	151717
कर्नाटक	1893	148136	150029
उड़ीसा	147138	0	147138
मध्य प्रदेश	0	139720	139720
अण्डमान–निकोबार	77000	0	77000
केरल	20000	0	20000
कुल योग	2956809	3770659	6727468

स्रोत– नेशनल रिमोट सेन्सिंग एजेन्सी एवं सहयोगी, 1996, मैपिंग साल्ट अफैक्टेड स्वाएल्स आफ इण्डिया, हैदराबाद

भारत में लवण प्रभावित मृदाओं को सामान्यतः दो वर्गों में विभाजित किया गया है–क्षारीय मृदा जिसे कल्लर या ऊसर कहते हैं और लवणीय मृदा जिसे सेम या लोनी भी कहते हैं। क्षारीय एवं लवणीय मृदाओं को संतृप्त घोल की विद्युत चालकता, विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा एवं मृदा पी. एच. मान के आधार पर वर्गीकृत किया गया है (तालिका 2)।

तालिका 2: लवण ग्रस्त (क्षारीय, लवणीय एवं लवणीय–क्षारीय) मृदाओं का वर्गीकरण

मृदा का प्रकार	विद्युत चालकता (डेसी सीमन्स प्रति मीटर)	विनिमय योग्य सोडियम	पीएच मान
लवणीय मृदा	> 4.0	< 15	< 8.5
क्षारीय एवं ऊसर मृदा	< 4.0	> 15	> 8.5
लवणीय–क्षारीय मृदा	> 4.0	> 15	< 8.5

लवणीय मृदा

ऐसी मृदायें जिनमें निष्क्रिय (उदासीन) घुलनशील लवणों की अधिक मात्रा के कारण बीज का अंकुरण एवं पौधों का विकास प्रभावित होता है, वह लवणीय मृदाएं कहलाती हैं। इन मृदाओं के संतृप्त घोल की विद्युत चालकता 4 डेसी सीमन प्रति मीटर से अधिक, मृदा का पी.एच. मान 8.2 से कम तथा विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत से कम होती है। लवणीय भूमि में सोडियम, कैल्शियम तथा मैग्नीशियम एवं उनके क्लोराईड एवं सल्फेट अधिक मात्रा में पाए जाते हैं जो आसानी से पानी में घुल जाते हैं। गर्मियों में तापमान बढ़ने पर वाष्पीकरण दर बढ़ने से घुलनशील लवण मृदा सतह की ओर आ जाते हैं। पानी तो वाष्प बनकर आसमान में उड़ जाता है और भूमि की ऊपरी सतह पर सफेद रंग की लवण पपड़ी बन जाती है। इसी कारण से ऐसी मृदाओं को कभी–कभी सफेद कल्लर भी कहा जाता है। इन मृदाओं में नमी तो बनी रहती है परंतु अधिक परासरणीय दाब के कारण पौधों को आवश्यकतानुसार जल की उपलब्धता नहीं हो पाती है। जिसके कारण उनकी बढ़वार एवं उत्पादन क्षमता पर विपरीत असर पड़ता है।

क्षारीय मृदा

वह मृदाएं जिनमें संतृप्त घोल की वैद्युत चालकता 4 डेसी सीमन प्रति मीटर से कम, मृदा का पीएच मान 8.2 से ज्यादा तथा विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा 15 प्रतिशत से ज्यादा होती है, क्षारीय मृदाएं कहलाती हैं। इस प्रकार की भूमि में सोडियम एवं कार्बोनेट और बाईकार्बोनेट लवणों की अपेक्षाकृत अधिकता होती है। विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा अधिक होने के कारण इन मृदाओं की भौतिक संरचना खराब हो जाती है, भूमि में सोडियम कार्बोनेट (धोने वाला सोडा) एवं सोडियम बाईकार्बोनेट (खाने वाला सोडा) की अधिकता होती है। परिणाम स्वरूप भूमि का पी.एच. मान बढ़ (8.5 से ऊपर) जाता है। पी.एच. मान बढ़ जाने से भूमि की भौतिक एवं रासायनिक दशा खराब हो जाती है जिसके फलस्वरूप भूमि खेती के अयोग्य हो जाती है। ऊसर भूमि में विशेषकर निचले भागों में सिंचाई अथवा वर्षा के उपरांत लम्बे समय तक जल भरा रहता है। सतह से कुछ सेंटीमीटर नीचे मृदा गीली रहती है परन्तु उसकी उपरी सतह शुष्क तथा कठोर दिखाई देती है। सूखने पर इन भूमियों में 1–2 सेमी. चौड़ी और कई सेमी. गहरी दरारें पड़ जाती है जो गीला होने पर भर जाती हैं।

इन भूमियों में पौधों को क्षति भूमि के खराब भौतिक गुणों तथा भूमि में सोडियम लवण की अधिकता के कारण होती है। भूमि में वायु एवं जल का संचार रुक जाता है और जड़ों का विकास ठीक प्रकार से नहीं हो पाता है। जमीन की निचली सतह (60–90 से.मी. नीचे) पर कंकड़ (कैल्सियम कार्बोनेट) की परत होने के कारण जड़ें गहराई में नहीं जा पाती हैं। इन भूमि में पानी सोखने की क्षमता बहुत कम होती है और पानी लम्बे समय तक भरा रहता है। अत्यधिक क्षारीयता के कारण पौधों की जड़ें गलने लगती हैं। भूमि का पी.एच. मान अधिक होने के कारण पोषक तत्वों की उपलब्धता कम हो जाती है। इन भूमियों में बिना उपचार के फसल उगाना असंभव होता है। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि खेतों में ऊसर टुकड़ों में दिखाई देता है जो फसल की बढ़वार और उसकी पैदावार को प्रभावित करता है। इन मृदाओं में भूमिगत जल आमतौर पर मीठा होता है परंतु कई स्थानों पर अवशिष्ट सोडियम कार्बोनेट (आर.एस.सी.) की समस्या भी रहती है। क्षारीयता प्रभावित भूमि को उत्तर प्रदेश, बिहार एवं मध्य प्रदेश में ऊसर या रेह कहा जाता है जबकि पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में कल्लर, राकर, बरा, बरी आदि नामों से जाना जाता है।

समस्या का विस्तार

भारत में लगभग 67.3 लाख हैक्टर क्षेत्र मृदा लवणता से प्रभावित हैं जिसमें 37.7 लाख हैक्टर क्षेत्र क्षारीय एवं शेष 29.6 लाख हैक्टर क्षेत्र में लवणीय है। क्षारीयता की समस्या से देश के 11 प्रदेश प्रभावित हैं। उत्तर प्रदेश में क्षारीयता प्रभावित सर्वाधिक 13.5 लाख हैक्टर क्षेत्र (35.75 प्रतिशत) है। इसके बाद गुजरात, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, हरियाणा एवं पंजाब में क्षारीय मृदा का क्रमशः 14.35, 11.21, 9.41, 4.86 व 4.02 प्रतिशत क्षेत्र है। भा.कृ.अनु.प.–केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल द्वारा लगाए अनुमान के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष क्षारीयता प्रभावित कुल 37.7 लाख हैक्टर क्षेत्र में अनाज, तिलहन, दाल और नकदी फसलों में होने वाली कुल उत्पादन क्षति 11.8 लाख टन (15,000 करोड़ रूपये की आर्थिक हानि के समतुल्य) है। लवणीय मृदाएं देश के 13 राज्यों में एक गंभीर समस्या है। गुजरात प्रदेश में लवणीय मृदाओं का सर्वाधिक क्षेत्रफल (16.8 लाख हैक्टर) है जो कि कुल राष्ट्रीय क्षेत्रफल का 56.84 प्रतिशत है। इसके पश्चात् पश्चिम बंगाल (14.92 प्रतिशत), राजस्थान (6.61 प्रतिशत) एवं महाराष्ट्र (6.23 प्रतिशत) का स्थान आता है। अनुमानों के अनुसार वर्ष 2015 में मुख्य फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य के आधार से राष्ट्रीय स्तर पर लवणता के कारण लगभग 56.6 लाख टन उत्पादन की हानि हुई जो आर्थिक दृष्टि से रु. 8000 करोड़ के समतुल्य है।

हरियाणा प्रदेश में 17 जिलों में लगभग लवण प्रभावित है जिसमें से 21 प्रतिशत क्षेत्र लवणता तथा 79 प्रतिशत क्षारीयता की समस्या से ग्रसित है। गुड़गांव, हिसार, रोहतक तथा झज्झर में जहां लवणता की समस्या है वहीं पर सोनीपत, पानीपत, जींद, करनाल तथा कैथल में क्षारीयता की समस्या ज्यादा है (तालिका 3)।

खेत से मिट्टी का नमूना लेने की सही विधि

सही तरीके से मृदा नमूना लेना मृदा परीक्षण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अगर नमूना सही तरीके से नहीं लिया गया तो प्रयोगशाला में किये गये विश्लेषण का भी सही आंकलन नहीं हो पाता। किसी भी परीक्षण के लिए यह एक अति महत्त्वपूर्ण कदम है क्योंकि पूरे खेत की मृदा का बहुत ही छोटी मात्रा (500 ग्राम) मृदा के बहुत बड़े भू–भाग के परीक्षण के बारे में बताती है अन्यथा परिणाम में त्रुटि आने की आशंका रहती है। इसलिए यह जरुरी हो जाता है कि खेत की मिट्टी का सही नमूना (प्रतिनिधि नमूना) लेने हेतु खेत का अच्छी तरह से निरीक्षण करना जरूरी है।

सही नमूने हेतु खेत का निरीक्षण– सर्वप्रथम खेत का निरीक्षण करके खेत को मिट्टी की संरचना, ऊँची, नीची, ढलान, आकार रंग, फसल की वृद्धि, प्रबंधन के आधार पर बांटकर उनके अलग नमूने लेने चाहिए। खेत की

मिट्टी यदि उपरोक्त गुणों में एक समान हो तो लगभग एक एकड़ क्षेत्र से 8–10 जगह पर टेढा–मेढ़ा घूमकर निशान बना लें और इन्हीं निशानों से मिट्टी के नमूने लें। प्रत्येक खेत का आकार एक एकड़ से अधिक न रखें। यदि पूरा खेत बहुत अधिक समानता वाला हो तो एक एकड़ से केवल एक नमूना भी बनाया जा सकता है।

तालिका 3. हरियाणा के विभिन्न जिलों में लवणग्रस्त मृदाओं के अन्तर्गत क्षेत्र, अनुमानित कुल उत्पादन में कमी एवं वित्तीय घाटे का विवरण

जिला	क्षेत्रफल (है.) उत्पादन में कमी (टन)			क्षेत्रफल (है.) उत्पादन में कमी (टन)			लवणग्रस्त मृदाओं द्वारा कुल वित्तीय घाटा (करोड़ रू.)
	क्षारीय भूमि	लवणीय भूमि	कुल लवण प्रभावित भूमि	क्षारीय भूमि	लवणीय भूमि	कुल लवण प्रभावित भूमि	
अंबाला	9487	1350	10837	778	2148	2926	2.50
भिवानी	1724	209	1933	721	62	784	1.46
फरीदाबाद	19903	3735	23638	181	6673	6854	4.54
फतेहाबाद	11811	1787	13598	10853	1998	12850	23.01
गुरूग्राम	2434	16910	19344	1114	18669	19782	25.76
हिसार	5656	15440	21095	7	17577	17584	33.68
झज्जर	12196	10045	22241	0	10149	15765	16.29
जींद	58991	7132	66123	15035	5910	101092	156.96
कैथल	40148	855	41003	5616	1304	47556	60.70
करनाल	42487	6776	49263	95182	11644	26679	25.81
कुरूक्षेत्र	1196	7259	8455	46252	6871	6871	8.35
पानीपत	68144	1683	69827	282924	6019	288943	254.88
रेवाड़ी	0	556	556	0	224	224	0.28
रोहतक	7321	16774	24095	1467	18114	19581	13.42
सिरसा	8446	579	9026	2336	84	2420	3.71
सोनीपत	66120	4674	70794	137292	11023	148316	146.26
यमुनानगर	2798	0	2798	1	0	1	–
कुल योग	358861	95764	454625	599760	118469	718228	777.62

नमूना लेने वाले यंत्रों का चुनाव

यंत्रों का चुनाव मृदा आकार पर निर्भर करता है। उपरी सतह से नमूना लेने के लिए खुर्पी या ट्यूब ऑगर, अधिक गहराई से या गीली मिट्टी से लेने के लिए पोस्ट होल ऑगर तथा सख्त मिट्टी से नमूना लेने के लिए बर्मे (स्क्रू ऑगर) का प्रयोग करें। आमतौर पर गाँवों में किसानों के पास सॉयल ऑगर की उपलब्धता नहीं होती

है इसलिये हम वहाँ पर खुरपी या कस्सी से भी मिट्टी का नमूना ले सकते हैं। इसके लिए सर्वप्रथम खुरपी की मदद से 'V' आकार का लगभग 15 से.मी. गहरा गड्ढा खोद लें। इसकी उपरी परत की मिट्टी को फेंक दें तथा निचली सतह की मिट्टी को पालीथीन बैग में भर लें। एक अच्छे यंत्र में निम्नलिखित विशेष गुण होने चाहिए जो इस प्रकार हैं :–

- यंत्र जंग व खुरदरी सतह वाला नहीं होना चाहिए।
- नमूना लेने से पहले यंत्र को अच्छी तरह से पानी से साफ करना चाहिए।
- यंत्र सभी जगह से समान मिट्टी लें और आसानी से साफ हो जाए।

नमूने की गहराई

सामान्यतः मिट्टी की जाँच के लिए नमूने 0–15 सेंटीमीटर की गहराई तक ही लेने चाहिए क्योंकि इसी गहराई तक फसलें पोषक तत्वों का अवशोषण करती हैं। अनाज, तिलहन, सब्जी, फूलों, चारे और मौसमी फसलों के लिए नमूना ऊपरी सतह (0–15 सें.मी) से घास–फूस, कंकड़–पत्थर आदि साफ करके नमूना लें। गहरी जड़ों वाली या दीर्घकालिक फसलें जैसे कि गन्ना या सूखे की स्थिति के तहत बोई गई फसलों के लिए नमूना की गहराई 30 सें.मी. तक होनी चाहिए। वृक्षारोपण अथवा बागवानी के लिए मिट्टी के नमूने 4–5 जगहों से 0–30 सेंटीमीटर, 30–60 सेंटीमीटर तथा 60–90 सेंटीमीटर तक अलग–अलग लेने चाहिए क्योंकि इनकी जड़ें काफी गहराई तक जाती हैं। समस्याग्रस्त मिट्टी जैसे अम्लीय (तेजाब) व क्षारीय रेह के नमूने ऐसे स्थानों से लेने चाहिए जहाँ फसल की वृद्धि अन्य स्थानों की तुलना में कम हो अथवा पोषक तत्वों की कमी के लक्षण अधिक हों। मिट्टी की जाँच के नमूने फसल की बुआई से पहले लेकर उनका परीक्षण करना अच्छा रहता है। सतह से नमूने लेने के लिए खुर्पी से अंग्रेजी के 'V' आकार का गड्ढा 15 से.मी. गहराई तक बनायें तथा एक किनारे से लगभग 2.5 से.मी. मोटी परत लें।

नमूना तैयार करना

एक खेत या भाग से लिये गये सभी नमूनों को एक बिल्कुल साफ सतह पर या कपडे या पोलीथीन शीट पर रखकर खूब अच्छी तरह मिलाकर एक समान कर लें। पूरी मात्रा को एक समान मोटाई में फैला लें तथा हाथ से चार बराबर भागों में बांट लें। आमने सामने वाले दो भाग हटा दें तथा शेष दो को फिर मिलाकर चार भागों में बांट दें। यह क्रिया तब तक दोहराते रहें जब तक मिट्टी की कुल मात्रा लगभग आधा कि.ग्रा. (500 ग्रा.) न बच जाये।

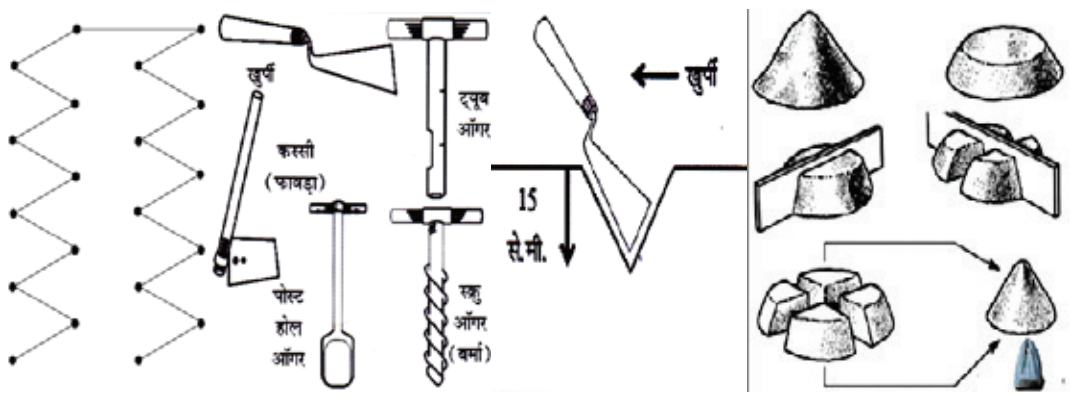

नमूनों की पैकिंग

अन्त में बची हुई लगभग आधा कि.ग्रा. मिट्टी को कपड़े/कागज/पोलीथीन की साफ (नई) थैली में रखकर उस पर किसान का नाम, पता, नमूना संख्या एवं तारीख इत्यादि लिख दें। अलग से एक कागज पर यही विवरण लिखकर थैली के अन्दर भी रख दें। मिट्टी गीली हो तो छाया में सुखाकर थैली में रख दें तथा 2–3 दिन में प्रयोगशाला में भेज दें।

अन्य आवश्यक जानकारी

नमूनों पर पहचान चिन्ह, नमूने की गहराई, फसल प्रणाली, प्रयोग की गई खादों व उर्वरकों की मात्रा तथा समय, सिंचाई सुविधा, जल–निकास आदि की जानकारी के अतिरिक्त वांछित फसल का नाम भी लिखें।

नमूना लेने हेतु विशेष सावधानियाँ

मिट्टी का रंग, ढलान, उपजाऊ शक्ति को ध्यान में रखते हुए भिन्न लगने वाले भागों से अलग–अलग नमूने लें। प्रयोग में लाये जाने वाले औजार, थैलियाँ आदि बिल्कुल साफ होनी चाहिए। नमूनों को खाद, उर्वरक, दवाईयों आदि के सम्पर्क में न आने दें। नमूना लेते समय सतह पर पड़ा हुआ कूड़ा, खरपतवार, गोबर आदि पहले ही हटा दें। पेडों के नीचे, खाद के गड्ढों के आस–पास तथा खेत की मेढ़ों से लगभग 2 मीटर दूरी तक नमूने न लें। ऊसर आदि की समस्या से ग्रस्त खेत या उसके किसी भाग का नमूना अलग से लें। यह भी सुनिश्चित करें कि वर्षा, सिंचाई, उर्वरक, जिप्सम, चूना के प्रयोग, फसल का कूड़ा कचरा जलाने व अन्य रसायन मिलाने के तुरन्त बाद नमूना नहीं लेना चाहिए।

मिट्टी परीक्षण का सही समय

वैसे तो मृदा नमूना किसी भी समय ले सकते हैं परन्तु फसल कटाई के बाद खुश्क मौसम में लेना अधिक लाभदायक रहता है। फसल बोने या रोपाई करने के एक माह पूर्व, खाद व उर्वरकों के प्रयोग से पहले ही मिट्टी परीक्षण कराएं। आवश्यकता हो तो खड़ी फसल में से भी कतारों के बीच से नमूना लेकर परीक्षण के लिए भेज सकते हैं ताकि खड़ी फसल में पोषण सुधार हेतु आवश्यक क्रिया–कलाप किये जा सकें। क्षारीय व लवणीय मृदा में फसल वृद्धि के समय जब सबसे अधिक लवण दिखाई दें तभी नमूना लेना चाहिए। इससे मृदा की सही दशा व स्थिति का पता चलता है।

लवणग्रस्त मृदा एवं सुधार की प्रगति

पंजाब और हरियाणा राज्यों में क्षारीय मृदा सुधार की प्रगति काफी अच्छी है जबकि उत्तर प्रदेश में सुधार की गति अत्यन्त धीमी है। देश के विभिन्न राज्यों में अब तक लगभग 50 हजार हैक्टर लवणीय मृदाओं का सुधार किया गया है जिसमें सामान्य भूमि के समान फसलोत्पादन हो रहा है। हमारे देश में अभी तक लगभग 1.8 मिलियन हैक्टेयर क्षारीय मृदाओं का सुधार किया जा चुका है जो कुल क्षारीय मृदाओं का लगभग 47 प्रतिशत है। क्षारीयता एवं लवणता से प्रभावित प्रमुख राज्यों में हुई भूमि सुधार की प्रगति का विवरण तालिका 3 में दिखाया गया है। अथक प्रयासों के बाद भी उत्तर प्रदेश में मात्र 0.635 मिलियन हेक्टेयर क्षारीय भूमि का सुधार हुआ है जो राज्य की कुल समस्याग्रस्त मृदाओं का आधे से भी कम है। देश में अभी 2.0 मिलियन हैक्टर भूमि ऊसर पड़ी है जिसे सुधार कर खेती योग्य बनाने का प्रयास किया जा रहा है। अब तक सुधारी गयी कुल 1.85 मिलियन हेक्टेयर क्षारीय एवं लवणीय मृदाओं से प्रतिवर्ष लगभग 15.0 मिलियन टन खाद्यान्नों का उत्पादन हो रहा है और 250 मिलियन मानव श्रम दिवस रोजगार सृजित हुआ है।

फसलों में लवणीय सहनशीलता की क्रियावली

लवणीय मृदाओं में पौधे की शारीरिक प्रक्रिया के आधार पर फसलों को उनकी सहनशीलता के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है:

परासरणी दाब के प्रति सहनशीलता

फसलों की जड़ों के सिरों तथा नवीन पत्तियों में परासरणी दाब त्वरित रूप से कौशिका की वृद्धि को रोकता है, जिससे रंध्र बंद हो जाते हैं एवं पौधे में जल की उपलब्धता बनी रहती है। यह क्रियावली पत्तियों की बढ़वार को भी कम करता है, जो वाष्पोत्सर्जन द्वारा होने वाले जल–ह्रास को कम करता है जिससे दाना बनते समय पादप तंत्र में जल उपल्ब्ध रहता है ।

तालिका 3: भारत में राज्य–वार प्रभावित एवं सुधरी हुई क्षारीय एवं लवणीय मृदाएँ (2006–07)

राज्य	सुधरी हुई क्षारीय मृदा (हैक्टर में)	सुधरी हुई जलग्रस्त लवणीय मृदा (हैक्टर में)	कुल सुधरी हुई लवण ग्रस्त मृदा (हैक्टर में)
आन्ध्र प्रदेश	0	500	500
अंडमान एवं निकोबार	0	0	0
बिहार	0	6000	6000
गुजरात	38300	3000	41300
हरियाणा	303000	6300	309300
कर्नाटक	2900	500	3400
केरल	0	200	200
महाराष्ट्र	0	3000	3000
मध्यप्रदेश	100	3050	3150
उड़ीसा	0	4000	4000
पंजाब	797000	4250	801250
राजस्थान	22400	16000	38400
तमिलनाडु	5100	3000	8100
उत्तर प्रदेश	635000	50	635050
पश्चिम बंगाल	0	50	50
कुल	1803800	49900	1853700

सोडियम आयन का बहिष्करण

जड़ों के द्वारा सोडियम बहिश्करण एक ऐसी प्रक्रिया है जो पत्तियों में इसके जमाव को विषाक्त स्तर से कम रखती है तथा पौधों को मरने से बचाती है। जिन फसलों एवं पत्तियों में सोडियम बहिष्करण की प्रक्रिया अनुपस्थित रहती है उनमें कुछ दिनों या सप्ताहों के उपरान्त पौधों में सोडियम विषाक्त स्तर पर पहुँच जाता है तथा पत्तियाँ प्रौढ़ावस्था से पूर्व मर जाती है।

उत्तक सहनशीलता

पत्तियों की पर्णमध्योतक कोशिका द्रव्यों में सोडियम एवं क्लोराईड आयन की सांद्रता को विषाक्त स्तर से कम रखने के लिए विभागीकरण प्रक्रिया द्वारा उत्तको में सहनशीलता प्राप्त की जाती है।

क्षारीय एवं लवणीय मृदाओं के सुधार हेतु तकनीकियाँ

लवणीय एवं क्षारीय मृदा सुधार हेतु यांत्रिक, रासायनिक, जैविक एवं शस्य विधियों की संस्तुति की जाती है। लवण प्रभावित भूमि के सुधार के लिए उपयोग में लाए जाने वाले अन्य तरीके जैसे जल निकासी द्वारा लवण निक्षलन, खुरचना इत्यादि मंहगे एवं आर्थिक रूप से कम व्यवहारिक है। इन क्षेत्रों की उत्पादकता बढाने के लिए लवण सहिष्णु प्रजातियों का विकास एक व्यवहारिक संभव दृष्टिकोण है जिसे छोटे तथा सीमान्त किसान सुचारू रूप से उपयोग कर अधिक आय कमा सकते हैं।

यांत्रिक विधि से सुधार

उप–सतही जल निकास तकनीक

भारत की जलमग्न लवणीय सिंचित मृदाओं के प्रभावी सुधार के लिए उप–सतही जल निकास तकनीक का विकास किया गया है। केन्द्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल द्वारा उप–सतही जलनिकास की प्रभावी तकनीक को 1980 के दशक के शुरूआती दौर में लवणीय जलग्रस्त भूमि के सुधार एवं प्रबधंन के लिए विकसित किया गया था। हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि राज्यों में इस तकनीक को अपनाकर जलग्रस्त भूमि का सफलतापूर्वक सुधार किया जा रहा है। भूमिगत जल निकास तकनीक के अंतर्गत छिद्र युक्त पाईप भूमि सतह से 1.5–2.0 मीटर गहराई तथा 60–67 मीटर के अन्तराल पर ट्रैन्चर मशीन द्वारा बिछाए जाते हैं। इससे भूमि में पानी के स्तर को स्थिर करने तथा लवणों के निक्षालन में सहायता मिलती है। सभी समानान्तर नालियों को एक संग्राहक नाली द्वारा जोड़कर 3–4 मीटर गहरे कुएँ (IEi) में पहुँचा दिया जाता है। इस कुएँ से पानी को पम्प द्वारा निकाल कर खुली नाली में डाल दिया जाता है। इस प्रकार भूमिगत जल को इच्छित स्तर पर स्थिर किया जा सकता है तथा घुलनशील लवण प्रभावित क्षेत्र से बाहर निकाले जा सकते हैं। संग्राहक नाली से निकलने वाले जल की गुणवत्ता ठीक हो तो पानी किसी प्राकृतिक नाले, नदी या नहर में भी डाला जा सकता है। एक–दो वर्ष के बाद जब इस पानी में लवणों की मात्रा कम हो जाये तो उसका परीक्षण करने के बाद फसलों की सिंचाई के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। भारत वर्ष के विभिन्न राज्यों के लगभग 50,000 हैक्टर जलग्रस्त लवणीय मृदाओं में उप–सतही जल निकास अपनाने के बाद फसल सघनता (25–100 प्रतिशत), फसल उपज (धान–45 प्रतिशत, गेहूँ–111 प्रतिशत, कपास–215 प्रतिशत) एवं तीन गुणा किसानों की आय में आशातीत वृद्धि हुई है। इस तकनीक के द्वारा 128 अतिरिक्त कार्य दिवस प्रति हैक्टर प्रति वर्ष रोजगार के अवसर प्रदान किये गये। उप–सतही जल निकास तकनीक को उत्तर–पश्चिम भारत की जलोढ़ मृदाओं में लगाने के लिए 60,000 रूपये प्रति हैक्टर की लागत आती है तथा महाराष्ट्र एवं कर्नाटक की भारी गठन वाली मृदाओं में 75,000 रूपये प्रति हैक्टर की लागत आती है। इस उप–सतही जल निकास प्रणाली में सामाग्री एवं स्थापन की लागत कुल लागत की लगभग आधी होती है। उप–सतही जल निकास तकनीक का आय–व्यय अनुपात 1.47 है जोकि 13 प्रतिशत प्राप्ति की आन्तरिक दर एवं मूलधन के वापस प्राप्ति की 5 वर्ष अवधि पर आधारित है।

बरमा छेद तकनीक

लवणग्रस्त मृदाओं में वृक्षारोपण करने के लिए बरमा छेद तकनीक कारगर साबित हुई है (चित्र 2)। इस तकनीक के तहत ट्रैक्टर चलित बरमे से 20 सेंटीमीटर व्यास के 120–140 सेंटीमीटर गहरे गड्ढे बनाये जाते हैं। इन गड्ढों को पैत्रिक मृदा + 3–5 किलोग्राम जिप्सम + 8–10 किलोग्राम गोबर की सड़ी हुई खाद + 20 ग्राम जिंक सल्फेट के बने हुऐ मिश्रण से भरकर इनमें लवण सहनशील वृक्षों की प्रजातियाँ लगायी जाती हैं। पौध रोपण के बाद 3–4 सिंचाई बाल्टी की सहायता से करते हैं तथा इसके बाद सिंचाई नालियां बनाकर करते हैं। जिन मृदाओं का पीएच मान 9.6 से कम होता है उनमें फलदार वृक्ष जैसे करौंदा, आंवला, अमरूद, अनार, बेर तथा जामुन आदि की खेती बरमा छेदक तकनीक की सहायता से आसानी से की जा सकती है। अधिक पी. एच. मान वाली मृदाओं में इस तकनीक से टेमेरिक्स आर्टिकुलाटा (फराश), अकेशिया निलोटिका (बबूल), अकेशिया फारनेशियाना (गुह बबूल), प्रोसोपिस जुलिफलोरा (विलायती बबूल/जंगली कीकर), पाराकिनसोनिया एकुलियेटा (राम बबूल), केजुरिना ग्लुका (स्वेम्प ओक), केजुरिना इक्वीसेटिफोलिया (जंगली सारू) एवं युकेलिप्टस टेरेटिकोर्नीस (सफेदा) आदि वृक्ष प्रजातियों को लवणीय मृदाओं में आसानी से उगाया जा सकता है।

लवणग्रस्त मृदाओं में (क) उप–सतही जल निकास तथा (ख) बरमा छेद तकनीक

रासायनिक विधि से सुधार

जिप्सम का प्रयोग

इसके तहत क्षारीय भूमि सुधारने के लिए रासायनिक भूमि सुधारक पदार्थों जैसे जिप्सम, पाइराईट, फास्फो–जिप्सम एवं गंधक का अम्ल आदि का प्रयोग किया जाता है किन्तु जिप्सम आसानी से बाजार में उपलब्ध हो जाता है तथा सस्ता एवं अत्यन्त प्रभावी होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय है। जिप्सम रासायनिक रूप से कैल्शियम सल्फेट है जिसमें कैल्शियम और गंधक होता है। क्षारीय भूमि सुधार के लिये यह आवश्यक है कि प्रयोग किये जाने वाले जिप्सम की शुद्धता 70 प्रतिशत से कम न हो। यदि मृदा का पी. एच. मान अधिक है तो जिप्सम का प्रयोग सीधे खेत में करें (तालिका 4) और यदि भूमिगत जल में अवशिष्ट सोडियम कार्बोनेट की मात्रा 2 से अधिक है तो जिप्सम बेड तकनीक (चित्र 3) को उपयोग में लाना चाहिए। क्षारीय भूमि सुधार से पूर्व खेत से मिट्टी का नमूना लेकर प्रयोगशाला में उसकी जांच करा लें और भूमि सुधार के लिये आवश्यक जिप्सम की मात्रा की जानकारी प्राप्त कर लें। मृदा के पी.एच. मान के अनुसार 10 से 15 टन प्रति हैक्टर जिप्सम की आवश्यकता पड़ती है।

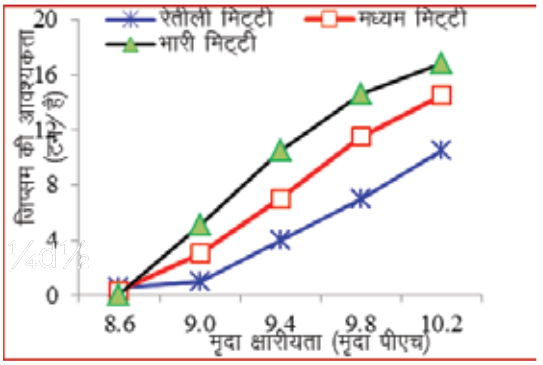

(क) विभिन्न पी.एच. मान की मृदा एवं जिप्सम की आवश्यकता के बीच सम्बंध (ख) जिप्सम बेड तकनीक से क्षारीय जल उपयोग

सर्वप्रथम खेत को लेजर लैंड लेवलर की सहायता से समतल करके चारों ओर 35 से 40 से.मी. ऊँची मेड़ बना लेनी चाहिए तथा आवश्यकता से अधिक वर्षा जल की निकासी हेतु उपयुक्त जल निकास की नालियाँ बना दें तथा खेत में अधिक जल भराव को जमा होने से रोके। जिप्सम को बारीक चूर्ण के रूप में जून के प्रथम सप्ताह में खेत की सतह से 10 से.मी. की गहराई तक जुताई करके भली–भांति मिला देना चाहिए। जिप्सम डालने के बाद खेत में पानी भर दें तथा 10–15 दिनों तक खेत में पानी भरा रहने के बाद धान की रोपाई करनी चाहिए। जिप्सम का प्रयोग करने से 3–4 वर्षों में क्षारीय भूमि का पीएच मान तथा विद्युत चालकता कम होने के परिणामस्वरूप मृदा की भौतिक एवं रासायनिक दशा में अनुकूल परिवर्तन होने लगता है तथा भूमि सामान्य अवस्था में आ जाती है।

तालिका 4. ऊसर भूमि सुधार हेतु पीएच मान के आधार पर जिप्सम की मात्रा का निर्धारण (टन/है.)

पीएच मान (मिट्टी–पानी अनुपात 1:2)	रेतीली बलुई मिट्टी	बलुई दोमट मिट्टी	भारी मटियार मिट्टी
9.2	1.7	2.5	3.4
9.4	3.4	5.0	6.8
9.6	5.0	7.5	10.0
9.8	6.8	10.0	14.6
10.0	8.5	12.5	15.0
10 से अधिक	10.0	15.0	15.0

जैविक एवं शस्य विधियों से सुधार

फसल का चुनाव

लवणीय जल वाले क्षेत्रों में लवण सहनशील फसलों को उगाना लाभदायक होता है जिनमें लवणों को सहन करने की अधिक क्षमता हो ताकि उत्पादन में कम से कम गिरावट हो सके। अनाज वाली फसलें तुलनात्मक रूप से लवणों के प्रति अधिक सहनशील होती हैं। तिलहनी फसलें, जिन्हें कम पानी की जरूरत होती है, अधिक लवणीय जल को सहन कर सकती हैं जबकि दलहनी फसलें लवणीय जल के प्रति अधिक संवेदनशील होती हैं। विभिन्न फसलों में लवणता की सीमा तालिका 5 में दी गई है जिसके अनुसार फसलों का चुनाव करना चाहिए।

तालिका 5: विभिन्न फसलों में वैद्युत चालकता की सीमा का फसलों का उपज पर प्रभाव

फसल	सापेक्ष उपज के लिये अधिकतम वैद्युत चालकता (ईसीई, डेसी सीमन प्रति मीटर)				
	100 प्रतिशत	90 प्रतिशत	75 प्रतिशत	50 प्रतिशत	0 प्रतिशत
धान	3.0	3.8	5.1	7.2	11.0
गेहूँ	6.0	7.4	9.5	13.0	20.0
जौं	8.0	10.0	13.0	18.0	28.0
गन्ना	1.7	3.4	5.9	10.0	19.0
कपास	7.7	9.6	13.0	17.0	27.0
मक्का	1.7	2.5	3.8	5.9	10.0
ज्वार	6.8	7.4	8.4	9.9	13.0
मूँगफली	3.2	3.5	4.1	4.9	6.6
सोयाबीन	5.0	5.5	6.3	7.5	10.0
लोबिया	4.9	5.7	7.0	9.1	13.0
चुकन्दर	7.0	8.7	11.0	15.0	24.0

स्रोतः मास एवं हौफमेंन (1977), एफ.ए.ओ. (1985)

फसलों की लवण सहनशील उन्नतशील प्रजातियों का चुनाव

फसलों की लवण सहनशीलता प्रजातियों एवं मृदा के प्रकार पर भी निर्भर करती है। तुलनात्मक रूप से अधिक लवणीय जल का हल्की एवं रेतीली मृदा में उपयोग आसानी से किया जा सकता है। फसलों के साथ ही लवणों को अधिक सहन करने वाली प्रजातियों का चयन भी प्राथमिकता के आधार पर करना चाहिए क्योंकि एक ही फसल की विभिन्न किस्मों की लवण सहनशीलता भिन्न होती है। लवणीय जल द्वारा सिंचाई को सहन करने वाली एवं अधिक उपज देने वाली किस्में विकसित की गई हैं जिनका विवरण तालिका 6 में दिया गया है।

तलिका 6 : फसलों की लवण सहनशील प्रजातियाँ

फसल	लवण सहनशील उन्नतशील प्रजातियां	क्षार सहनशील उन्नतशील प्रजातियां
धान	सीएसआर 30, सीएसआर 36, सुमती एवं भूतनाथ	सीएसआर 10, सीएसआर 13, सीएसआर 23, सीएसआर 30, सीएसआर 36,सीएसआर 43, सुमती एवं भूतनाथ
गेहूँ	केआरएल 210, केआरएल 213, डब्ल्यूएच 157, राज 2560, राज 3077, राज 2325	केआर.एल 1–4, केआरएल 19, केआरएल 210, केआरएल 213, राज 3077,
सरसों	सीएस 52, सीएस 54, सीएस 56, सीएस 330–1,पूसा बोल्ड, आर एच 30	सीएस 52, सीएस 54, सीएस 56, वरूना, डीआईआरए 336
चना	करनाल चना 1	करनाल चना 1
बाजरा	एचएचबी 60, एमएच 269, एमएच 331, एमएच 427	एचएचबी 392, एमएच 269, एमएच 280, एमएच 427
कपास	डीएचवाई 286, सीपीडी 404, जीडीएच 9, जी 17060	एचवाई 6, सर्वोत्तम, एलआरए 5166
ज्वार	सीएचएस 11,एसपीवी 475, एसपीवी 881, एसपीवी 678, एसपीवी 669	सीएचएस 11, सीएचएस 14, सीएचएस 1, एसपीवी 475, एसपीवी 669
जौं	रत्ना, आरएल 345, आरडी 103, आरडी 137, के 169	डीएल 4, डीएल 106, डीएल 120, डीएचएस 12
कुसुम	एचयूएस 305, ए–1, भीमा	मजीरा, एपीआरआर 3, ए 300

उपयुक्त फसल–चक्र का चुनाव

लवणग्रस्त क्षेत्रों में लवण सहनशील फसलों को उपयुक्त फसल–चक्र में अपनाकर लगाने से मृदा को हानि पहुंचाए बिना अधिक फसलोत्पादन लिया जा सकता है। लवणीय क्षेत्रों में प्रायः उन फसलों तथा फसल–चक्रों को प्राथमिकता देनी चाहिए जिनको पानी की कम आवश्यकता पड़ती है ताकि भूमि में सिंचाई जल द्वारा लवणों की कम से कम मात्रा एकत्रित हो सके। सिंधु–गंगा के मैदानों में सघन फसल–चक्र में अगर धान फसल–चक्र का एक घटक है तो भूमि सुधार के प्रारंभिक 3–4 वर्षों में धान–गेहूँ–ढैंचा (हरी खाद) फसल–चक्र अपनाएं तथा खेत को अधिक समय तक खाली न छोड़ें और खेत में अनावश्यक पानी खड़ा न रहने दें। सुधार के प्रारम्भिक दौर में फसलों की लवण सहनशील किस्मों का ही प्रयोग करना चाहिए और इसमें सिंचाई के साथ पर्याप्त मात्रा में जिप्सम का प्रयोग आवश्यक है।

सिंचाई जल का प्रबन्धन

जल प्रबन्धन में सिंचाई निर्धारण का विशेष स्थान है, जिसमें प्रत्येक सिंचाई, सिंचाई अंतराल तथा लगाए जाने वाले पानी की गहराई मुख्य कारक हैं। सिंचाई के बीच अंतराल कम या अधिक होने से फसल उत्पादकता घटती है तथा जल उपयोगी क्षमता कम होती है। उच्च सोडियम विनयमता मृदा जल व्यवहार को सार्थक रूप से प्रभावित करती है इसलिए ऊसर समस्या के समाधान में जल प्रबन्धन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऊसर भूमि में नमी की मात्रा सामान्य मृदा की अपेक्षा भारात्मक रूप से 5 प्रतिशत तथा आयतनात्मक रूप से 8 प्रतिशत कम होती है। ऊसर मृदा की जल चालकता कम होने से निचली सतह से उपरी सतह की ओर जल संचलन

वाष्पोतसर्जन की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाता जिसके परिणाम स्वरूप उपलब्ध जल तीव्र गति से समाप्त हो जाता है। अतः सिंचाई का अंतराल कम रखना चाहिए।

अच्छी गुणवत्ता वाला जल सीमित मात्रा में उपलब्ध होने के कारण लवणीय जल के साथ मिलाकर सिंचाई करने से अधिक उपज मिल सकती है साथ ही लवणीय एवं अच्छी गुणवत्ता वाले जल का चक्रीय उपयोग भी लाभदायक होता है। लवणीय भू–जल वाले क्षेत्रों में यदि नहरी जल भी उपलब्ध हो जो फसलों को प्रारम्भिक अवस्थाओं में एवं फूल बनने के समय अच्छी गुणवत्ता वाले जल द्वारा सिंचाई करने से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर 2 सिंचाईयाँ अच्छे जल से तथा 1 सिंचाई लवणीय जल से या एक बार अच्छे जल तथा 1 बार लवणीय जल से सिंचाई करके सामान्य फसलोत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। फसल की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अच्छा जल एवं बाद की अवस्थाओं में लवणीय जल का उपयोग लाभदायक सिद्ध होता है।

खाद एवं उर्वरकों का प्रबन्धन

उर्वरकों का उपयुक्त व न्यायसंगत प्रयोग भी लवण ग्रस्त मृदा प्रबन्धन नीति का एक भाग है। सामान्यतः लवणग्रस्त मृदा में सामान्य मृदा की तुलना में उर्वरकों की अधिक आवश्यकता होती है। इसका मुख्य कारण लवणग्रस्त मृदाओं में परासरणीय दबाव उच्च हो जाने के कारण पोषक तत्वों की उपलब्धता सामान्य मृदाओं की तुलना में कम हो जाती है जिसके फलस्वरूप फसल पादपों की पोषण लेने की क्षमता कम हो जाती है यद्यपि सुधरी हुई क्षारीय मृदाओं में प्रस्तावित उर्वरकों की मात्रा उपयुक्त होती है। सिंधु–गंगा मैदानी क्षेत्र के किसान सुधार के बाद नत्रजन उर्वरकों का अधिक उपयोग करते हैं जिससे मुख्य पोषक तत्वों का सतुंलन बिगड़ता जा रहा है। किसानों की प्रवृति रहती है कि वे धान में पोटाश का उपयोग नहीं करते हैं व फॉस्फोरस का कम उपयोग करते हैं। पोषक शोषित धान–गेहूँ फसल प्रणाली में सूक्ष्म पोषकों की कम मात्रा की निरंतर आपूर्ति की आवश्कयता होती है जो कि अधिकांशतः नहीं दी जाती है। सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली में सिंचाई जल के साथ–साथ घुलनशील उर्वरकों एवं आवश्यक पोषक तत्वों का साथ प्रयोग किया जा सकता है इस प्रक्रिया को फर्टिगेशन कहते हैं। फर्टिगेशन द्वारा उर्वरक की खपत 25–40 प्रतिशत कम हो सकती है। इस प्रक्रिया में घुलनशील उर्वरकों को सिंचाई जल के साथ मिश्रित कर दिया जाता है। खाद एवं उर्वरकों का उपयोग करते समय निम्न बिंदुओं को ध्यान में रखना चाहिए।

- अनाज वाली फसलों में 10–15 टन एवं सब्जी वाली फसलों में 20–25 टन गोबर की खाद का उपयोग करते रहने से मृदा में लवणों द्वारा होने वाले दुष्प्रभावों को कुछ सीमा तक कम किया जा सकता है।
- लवणीय मृदाओं में सामान्य मृदाओं की तुलना से सिफारिश किए हुये नत्रजन उरर्वकों की दर से 25 प्रतिशत अधिक की दर से नाइट्रोजन का प्रयोग करना चाहिए।
- क्लोराईड अधिकता (70 प्रतिशत से अधिक) वाले पानी से सिंचित भूमि में 50 प्रतिशत अधिक फॉस्फोरस उर्वरकों का प्रयोग करना चाहिए।
- हरी खाद के रूप में ढैंचा एवं मूंग का समावेश, अवशेष प्रबन्धन, खेती संसाधनों के पुनः चक्रण को अपनाने से रासायनिक पोषक तत्वों की काफी मात्रा को बचाया जा सकता है तथा यह पर्यावरण के अनुकूल भी होते हैं।
- धान–गेहूँ फसल–चक्र में हरी खाद का प्रयोग या मूंग की खेती को अपनाकर मृदा की भौतिक स्थिति, जैविक कार्बन मात्रा व बेहतर पोषक भंडार को बढ़ाया जा सकता है।
- नत्रजन उरर्वकों की दक्षता बढाने के लिए खादों का स्पलिट रूप में प्रयोग करना चाहिए।

- लवण ग्रस्त मृदाओं में उरर्वकों का उपयोग सिंचाई जल के साथ करना एक अच्छा विकल्प साबित होता है।
- सिंधु–गंगा मैदानी क्षेत्रों की क्षारीय भूमि में धान–गेहूँ फसल प्रणाली में सामान्य भूमि की तुलना में 25 प्रतिशत अधिक नत्रजन उर्वरकों का प्रयोग करना चाहिए। नत्रजन की 150 किलोग्राम मात्रा के साथ 25 किलोग्राम जिंक सल्फेट प्रति हैक्टर की दर से धान में प्रयोग करें। सुधार के प्रारंभिक 4–5 वर्षों में फसलों में फॉस्फोरस तथा पोटाश उर्वरक देने की आवश्यकता नहीं होती है। नत्रजन उर्वरकों की आधी मात्रा बुआई के समय और आधी मात्रा प्रथम व द्वितीय सिंचाईयों के बाद दो बार में प्रयोग करें।
- पंजाब, हरियाणा इत्यादि में गेहूँ की कटाई के बाद ढैंचा और मूंग लगाकर हरी खाद के रूप में प्रयोग करने से आगामी धान की फसल को 75 किलोग्राम नत्रजन प्रति हैक्टर मिलने के साथ–साथ भूमि सुधार में भी सहायता मिलती है।

गहरी जुताई

लवण प्रभावित क्षेत्रों में खेत की तैयारी के समय लवण निक्षालन एक आवश्यक प्रकिया है। अगर खेत परती है, तो गहरी जुताई करनी चाहिए जिससे निक्षालन सही रूप से हो सके। मृदा में जमा लवणों को निक्षालन द्वारा प्रभावी रूप से हटाया जा सकता है, लेकिन इसके लिए पर्याप्त पात्रा में पानी की आवश्यकता होती है। विशेष तौर से अधिक पौध सघनता वाली फसलें जैसे गाजर, प्याज, मूँगफली इत्यादि एवं लवण निक्षालन उन फसलों के लिए भी अत्यन्त आवश्यक है जो लवणों की अधिक मात्रा के प्रति संवेदनशील होती है जैसे कि मटर, गन्ना, लाल क्लोवर इत्यादि। यह फसलें शुरूआती दिनों में अधिक सवेदनशील होती हैं। लवण निक्षालन पूरे खेत से समान रूप से होना चाहिए तथा गीले एवं सूखे खेत में अन्तर नहीं होना चाहिए।

भूमि का समतलीकरण

समान रूप से पानी का वितरण निश्चित करने के लिए खेत को सावधानीपूर्वक समतल करना आवश्यक है। समतलीकरण से खेत समान रूप से बराबर हो जाता है जिससे पानी की गहराई खेत में एक सी रहती है जो उच्च जल उपयोगी क्षमता प्रदान करती है। समतलीकरण द्वारा पादप पोषक तत्वों का बेहतर उपयोग सुनिश्चित होता है जिसके कारण जल एवं उर्वरकों की कम लागत आती है। इससे अधिक जल खेत में इकट्ठा नहीं हो पाता तथा उसकी निकासी भी आसानी से हो जाती है। खेत में ऑक्सीजन का विसरण भी समान रहता है जो पौधों को स्वस्थ रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समतलीकरण के उद्देश्य को पूरा करने हेतु नव विकसित तकनीक 'लेजर लैण्ड लेवलर' का प्रयोग अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। यह तकनीक जल एवं पादप पोषक तत्वों को समान रूप से अवशोषित करने में सहायक होती है जिससे पौधों की समान एवं सुदृढ़ बढ़वार होती है। चूकि क्षेत्र समान रूप से समतल हो जाता है इसलिए खेत के क्षेत्रफल में लगभग 3 प्रतिशत की वृद्धि पाई जाती है। इस तकनीक द्वारा 15 से 25 प्रतिशत तक सिंचाई के जल को बचाया जा सकता है।

पलवार (मल्च) का उपयोग

दो सिंचाई व परती के बीच अंतराल में उच्च वाष्पोत्सर्जन के दौरान निक्षालित लवण पुनः मृदा की उपरी सतह पर आने की प्रवृति रखते हैं ऐसी कोई भी गतिविधि जो वाष्पीकरण को कम करे तथा मृदा जल को नीचे की सतहों में प्रवाह को बढ़ावा देती हो, मृदा लवणीयता को रोकने में सहायक होता है। शुरूआती दिनों में जब घुलनशील लवणों की सघनता अधिक होती है उस समय पलवार सार्थक रूप से सहायक सिद्ध होती है। पलवार की हुई मृदा में बार–बार जल छिड़काव से मृदा की निक्षालन क्षमता में वृद्धि होती है तथा इसका फसल उत्पादकता पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली

सीमित अंतः सपांदन क्षमता की वजह से लवणीय मृदाओं की जल अवशोषित करने की क्षमता कम होती है। इन मृदाओं की जल आपूर्ति क्षमता और भी कम हो जाती है क्योंकि इनका जलीय संचालन कम होता है। क्षारीय भूमि में जल गति इतनी कम होती है कि यह निचली सतहों से जल आपूर्ति करके वाष्पोत्सर्जन की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पाता है, परिणामस्वरूप मृदा में उपलब्ध जल शीघ्र समाप्त हो जाता है जिसकी पुनः पूर्ति हेतु कम अतंराल पर नियमित सिंचाई देनी पड़ती है। सामान्य मृदा की अपेक्षा क्षारीय मृदा में जड़ों का फैलाव ऊपरी सतह में रहना, जल धारण क्षमता कम होना, जल बहाव कम होना इत्यादि के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि हल्की सिंचाई कम अंतराल से सुनिश्चित की जाए ऐसी परिस्थितियों में टपका एवं फव्वारा विधि से सिंचाई सतही सिंचाई की अपेक्षा अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। टपका विधि, सिंचाई की ऐसी तकनीक है जिसमें जल नियंत्रित रूप में बूँद–बूद कर के लगाया जाता है। इससे मृदा में उच्च नमी की मात्रा बनी रहती है तथा अंतः श्रवण कम मात्रा में होता है। इस विधि की उपयुक्त विशेषताएँ क्षारीय जल को भी कृषि में उपयोगी बनाती है।

अन्य शस्य क्रियाऐं

- लवणीय मृदाओं में फसलों को मेड़ के बीच में एक साईड में लगाना चाहिए ताकि लवणों का प्रभाव पौधों की जड़ों पर कम पड़े। वहीं दूसरी और क्षारीय मृदाओं में फसलों की बुआई कूड़ में करनी चाहिए।
- सामान्य भूमि में तैयार की गई 40 से 45 दिनों वाली धान की पौध जुलाई के प्रथम सप्ताह में कद्दू किये गये खेत में रोपाई करें। पंक्ति से पंक्ति की दूरी 15 से 20 से.मी. रखें तथा पौधे से पौधे की दूरी 15 से.मी. रखे एवं प्रत्येक स्थान में 3–4 पौधे लगायें।
- पौधे से पौधे तथा लाईन से लाईन की दूरी को कम करना चाहिए तथा 20 से 30 प्रतिशत अधिक बीज दर का प्रयोग करना चाहिए।
- सूखी भूमि या कम नमी पर बुआई के बाद फव्वारे से हल्की सिंचाई करने पर फसलों का जमाव अच्छा होता है।
- सतही सिंचाई में फसल की आवश्यकता से अधिक जल की मात्रा का उपयोग करना चाहिए, जिससे सोडियम कार्बोनेट की अधिक मात्रा का निक्षालन जड़ क्षेत्र से हो सके।

जैविक सुधारक

इसके तहत गन्ना मिल का प्रेसमड, शीरा, धान की पुआल, धान की भूसी, तापीय विद्युत गृह की राख, जलकुम्भी, कम्पोस्ट खाद, गोबर की खाद, बिना सड़ा कच्चा गोबर इत्यादि कार्बनिक पदार्थों का प्रयोग भी ऊसर सुधार के लिए किया जाता है। जैविक पदार्थ का उपयोग करने से भूमि की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक दशा में परिवर्तन होने के फलस्वरूप क्षारीय भूमि का सुधार होने लगता है। भूमि में कुछ सुधार होने के बाद ढैंचा की हरी खाद का प्रयोग करके ऊसर के प्रति सहनशील फसल प्रजातियाँ जैसे धान, चुकन्दर, पालक आदि उगाई जाती हैं जिससे भूमि का भली–भांति सुधार हो जाता है। यह विधि प्राकृतिक होने के कारण सस्ती है किन्तु सुधार में काफी अधिक समय लगता है।

लवणग्रस्त मृदाओं में कृषि–वानिकी

कृषि–वानिकी के तहत् सिल्वी–पासटोरल प्रणाली में विभिन्न प्रकार के वृक्षों जैसेः टेमेरिक्स आर्टिकुलाटा (फराश), अकेशिया निलोटिका (बबूल), अकेशिया फारनेशियाना (गुह बबूल), प्रोसोपिस जुलिफलोरा (विलायती

बबूल/जंगली कीकर), पाराकिनसोनिया एकुलियेटा (राम बबूल), केजुरिना ग्लुका (स्वेम्प ओक), केजुरिना इक्वीसेटिफोलिया (जंगली सारू) एवं युकेलिप्टस टेरेटिकोर्नीस (सफेदा) आदि वृक्ष प्रजातियों को विभिन्न प्रकार की घासों जैसेः लेप्टोक्लोआ फुस्का (कलर घास), क्लोरिस गयाना (रोढ्स घास) ब्रेकियरिया मुटिका (पैरा घास), पेनिकम स्पीसीज (बनसा) आदि के साथ लवणीय मृदाओं में आसानी से लगाया जा सकता है। जल मग्न व लवण ग्रस्त भूमियों में जैविक कार्बन की मात्रा कम होती है तथा इन्हें सुधारने के लिए शीघ्र बढ़ने वाले वृक्षारोपण करना कार्बन स्थिरीकरण की एक कारगार नीति है। युकेलिप्टस की जैव–जल निकास पट्टिरोपण लगाकर जल निकास के साथ–साथ कार्बन का स्थिरीकरण भी किया जा सकता है। वृक्षारोपण द्वारा मृदा कार्बन में वृद्धि एक महत्त्वपूर्ण कार्बन भंडार (सिंक) की तरह भी कार्य करती है। अतः युकेलिप्टस रोपण भूमिगत जल स्तर को नीचा करने के अलावा कार्बन स्थिरीकरण के रूप मे अतिरिक्त लाभ प्रदान करता है।

लवणीय मृदाओं में वृक्षारोपण के लिए उप–सतही या कूड़ विधि अपनाई जाती है जिसमें ट्रैक्टर द्वारा नालियाँ बनाने वाले यंत्र से 50 सेंटीमीटर चौड़ी और 60 सेंटीमीटर गहरी नालियाँ बनायी जाती हैं। चूनेदार/काली मृदाओं में नालियों के मध्य में बरमा छेदक से गड्ढा बनाकर उसको मृदा मिश्रण (पैत्रिक मृदा+सड़ी हुई गोबर की खाद+कीटनाशक) से भर दिया जाता है। लवणीय सिंचाई जल से भी इन नालियों में सिंचाई की जा सकती है। वृक्षारोपण के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये पंक्ति से पंक्ति की दूरी एवं पौधे से पौधे की दूरी को निर्धारित किया जाता है।

भारत में धान-गेहूँ फसल की उत्पादकता एवं लाभप्रदत्ता की क्षमता हेतु फसल सघनीकरण ही कुंजी

एस. सी. त्रिपाठी, सुभाष चन्द्र एवं राजपाल मीणा

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001

पूरे विश्व में खाद्यान्नों का 50 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा अकेले धान एवं गेहूँ उत्पादन से आता है और कुल मिलाकर विश्व की 20 प्रतिशत आबादी की खाद्यान्न की पूर्ति इन दो फसलों द्वारा होती है। दक्षिण एशिया में यह फसल प्रणाली सबसे अधिक क्षेत्रफल लगभग 1 करोड़ पाँच लाख हैक्टर केवल अकेले भारत में ही विद्यमान है। यह फसल प्रणाली मुख्यतः गंगा–यमुना के मैदानी क्षेत्रों में प्रचलित है। भारत में क्रमशः 23 व 40 प्रतिशत धान व गेहूँ का क्षेत्रफल इसी फसल प्रणाली से आता है। इन दोनों फसलों में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न कृषि परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। धान तो मुख्यतः मढ़ाई (मचाई) के उपरान्त रोपित की जाती है। जिसमें लगातार जलभराव सुनिश्चित किया जाता है जबकि गेहूँ को अच्छी, हवादार व जलभराव नहीं चाहिए। धान–गेहूँ प्रणाली जिसमें लगभग 40 क्विंटल गेहूँ व 70 क्विंटल धान प्रति हैक्टर की उपलब्धता मिलती है से लगभग 300 कि.ग्रा. नाईट्रोजन, 30 कि.ग्रा. फॉस्फोरस व 300 कि.ग्रा. पोटाश प्रति हैक्टर की दर पोषक तत्वों का दोहन हो जाता है। इस फसल प्रणाली को लगातार अपनाने से मिट्टी एवं फसल दोनों की उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। धान और गेहूँ दोनों फसलों की सिंचाई आवश्यकता की जरूरत होती है। ट्यूबवेलों द्वारा ज्यादा पानी दोहन करने में भू–जल स्तर में तेजी में गिरावट दर्ज की जा रही है। अगर यही परिस्थिति रही तो इस क्षेत्र में पीने के पानी की भी समस्या खड़ी हो सकती है। धान–गेहूँ फसल प्रणाली के लगातार प्रयोग से धान की उत्पादक क्षमता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जो कि हर साल 20 कि.ग्रा. प्रति वर्ष की दर से पीछे जा रही है। दलहनी फसलें जो कि वर्षा आधारित समतल सूखे क्षेत्रों में बिजी जाती है। उनके कम उत्पादन से हमारे देश के सामने दाल व तेलों का अभाव पैदा हो गया है। जिस कारण से मजबूरी वश इनका आयात करना पड़ता है जो कि एक बहुत खर्चीला सौदा साबित होता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए धान–गेहूँ प्रणाली में विविधता एवं सघनता की जरूरत महसूस की गई ताकि इस फसल प्रणाली की टिकाऊपन व उत्पादकता के साथ–साथ शुद्ध लाभ में भी समानता बनी रहे। इस दिशा में वैज्ञानिकों, किसानों, विस्तार शिक्षा विशेषज्ञों एवं गैर सरकारी उद्योग समूहों द्वारा भी संसाधन संरक्षण तकनीकों के प्रयोग से उत्पादकता एवं लाभप्रदत्ता बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। मेढ़ पर बुआई करना भी इस दिशा में एक सराहनीय प्रयास है जिसमें 20–30 प्रतिशत जल व पोषक तत्वों की बचत की जा सकती है। इस प्रणाली में 40 सें.मी. की मेढ़ व 30 सें.मी. की नाली का निर्माण मेढ़ बनाने वाली मशीन द्वारा किया जाता है। मेढ़ पर गेहूँ की तीन कतारें बोई जाती है व सिंचाई नालियों में की जाती है। इस प्रणाली में कम बीज व पोषक तत्वों के अलावा ग्रीष्म काल में उन्हीं मेढ़ों पर दलहनी फसलों की बुआई की जा सकती है। इस पद्धति से न केवल कम पानी में उत्पादन लिया जा सकता बल्कि कम बीज, कम पोषक तत्व, बेहतर मशीनीकरण द्वारा खरपतवार नियंत्रण, बरसाती पानी सोखने हेतु ज्यादा सतही क्षेत्रफल, जल्दी जल निकासी, फसल का कम गिरना इत्यादि के साथ दूसरी तिलहनी व दलहनी फसलों का उत्पादन भी बढ़ता है और संसाधनों की भी बचत होती है।

धान–गेहूँ प्रणाली की सघनता बढ़ाने हेतु कई कारक अपनी भागीदारी निभाते हैं जैसे कि फसलों की अवधि, उनकी उन्नत किस्मों की उपलब्धता, स्थानीय बाजार में उनके उत्पादों की मांग, पोषक तत्वों व जल की आवश्यकता और सामाजिक अर्थव्यवस्था। कम मात्रा में हरी खाद के प्रयोग से भी धान उत्पादकता में वृद्धि दर्ज की गई जिसमें की यह संकेत मिलता है कि हरी खाद का प्रयोग मुख्यतः नाइट्रोजन की उपलब्धता बढ़ाने हेतु किया जाना चाहिए। हरी खाद के प्रयोग से यह भी पता चला है कि इसका उपयोग करने से न केवल पैदावार

बढ़ती है बल्कि मृदा की भौतिक रासायनिक व जैविक दशा में सुधार होता है। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल में प्रयोग किए गये हैं। इन प्रयोगों की विधि व परिणाम निम्न प्रकार में हैंः–

प्रयोग सामग्री व विधिः– यह प्रयोग भारतीय गेहूँ व जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल के अनुसंधान प्रक्षेत्र पर लगातार तीन वर्ष (2007–08 से 2009–10) तक किया गया प्रयोगात्मक प्रक्षेत्र की मिट्टी रेतीली दोमट वाली संरचना की थी जिसमें जैव कार्बन व नाईट्रोजन कम, फॉस्फोरस एवं पोटाश मध्यम मात्रा में उपलब्ध था। इस प्रयोग में धान–गेहूँ–मूंग, धान–गेहूँ–चावला, धान–सब्जी–मटर–गेहूँ को शून्य जुताई, मेढ़ पर बिजाई और सामान्य जुताई के साथ उगाया गया। एक उपचार केवल धान–गेहूँ भी रखा गया था। धान को मचाई के बाद लगाया गया और इसके बाद रबी में विभिन्न जुताई विधियाँ प्रयोग में लायी गयी। शून्य जुताई, मेढ़ पर बिजाई व सामान्य जुताई विधियों को गेहूँ, मूंग, सब्जी मटर व चावला लगाने हेतु उपयोग में लाया गया। धान के लिए गोबिन्द, मूंग के लिए एस.एम.एल. 668, चावला के लिए सुकोमल, सब्जी मटर के अक्रल व गेहूँ के लिए पी. बी. डब्ल्यू 502 किस्मों को फसल प्रणाली क्रम में लगाया गया। सामान्य गेहूँ की बीजाई नवम्बर के प्रथम सप्ताह धान के बाद की गई जिसमें गेहूँ की किस्म पी.बी.डब्ल्यू 502 को लगाया गया जबकि सब्जी मटर के गेहूँ की पछेती किस्म राज0 3765 को दो बार मटर फली तोड़ने के उपरान्त जनवरी के प्रथम सप्ताह में बीजा गया। धान एवं समय से बिजित गेहूँ में क्रमशः 150, 60, 40 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाश/हैक्टर की दर से डाली गई जबकि पछेती गेहूँ में क्रमशः 120, 60, 40 कि.ग्रा. नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाश/हैक्टर रखी गई। चावला, मूंग और सब्जी मटर में कोई भी रासायनिक उर्वरक नहीं डाला गया क्योंकि दलहनी फसलें होने के कारण इनको ज्यादा उर्वरकों की आवश्यकता नहीं होती। मूंग और चावला के बाद लगाई गई धान की फसल में 25 प्रतिशत कम नाइट्रोजन डाली गई क्योंकि दलहनी फसलों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का स्थितिकरण होता है जो आगामी फसल को प्राप्त होता है। फॉस्फोरस व पोटाश की पूरी मात्रा व नाइट्रोजन की एक तिहाई मात्रा बिजाई पर डाली गई और बची हुई नाइट्रोजन दो बराबर–बराबर हिस्सों में धान व गेहूँ में डाली गई।

रासायनिक उर्वरक डालने हेतु यूरिया, डी.ए.पी व म्युरेट आफ पोटाश का उपयोग किया गया। खरपतवार प्रबंधन हेतु धान में एक ली. प्रति हैक्टर की दर से ब्युटाक्लोर को रोपाई के 3–4 दिन बाद 20–25 कि.ग्रा. रेत में मिलाकर छिड़का गया व गेहूँ में सल्फोसल्फ्युरोन 25 ग्रा. प्रति हैक्टर की दर से पहली सिंचाई के बाद लगभग बिजाई के 30–35 दिन 400 लीटर पानी में घोलकर स्प्रे की गई। चावला, मूंग व सब्जी मटर हेतु सिफारिश की गई सभी सस्य क्रियाओं की अनुपालना की गई। सभी दलहनी फसलों के अवशेषों को फलियों की तुड़ाई उपरान्त उसी खेत में जोत दिया गया ताकि मृदा को ज्यादा मात्रा में नाइट्रोजन मिल सके। सभी फसलों के समर्थन मूल्य को लेते हुए फसल प्रणाली की समतुल्यांक गेहूँ उत्पादकता की गणना की गई। उत्पादन लागत की गणना करने हेतु सभी डाले गए पदार्थों जैसे कि बीज, खाद, खरपतवारनाशी, सिंचाई पानी, जुताई क्रियाएं, ट्रांसपोर्ट मूल्य, प्रबंधन मूल्य और भूमि का वार्षिक किराएं को शामिल किया गया। आमदनी की गणना करने हेतु धान, गेहूँ व मूंग का समर्थन मूल्य तथा चावला व सब्जी मटर फली का बाजार मूल्य लिया गया। शुद्ध आय निकालने के लिए कुल आमदनी में कुल लागत मूल्य को घटाया गया था। लाभ लागत अनुपात की गणना करने हेतु कुल आमदनी को कुल लागत से भाग दिया गया।

प्रति इकाई समय में फसल सघनता को मापने के लिए भूमि उपयोग दक्षता की गणना, फसल क्रम में फसल की कुल अवधि को 365 दिन से भाग देकर की गई। उत्पादन दक्षता की गणना हरेक फसल से प्राप्त गेहूँ समतुल्याँक उपज को उसी फसल क्रम की अवधि से भाग देकर की गई। धान व गेहूँ की उपज और गेहूँ समतुल्याँक उपज की वार्षिक आधार पर गणना की गई एवं इसी आधार पर विभिन्न उपचारों की आपस में तुलना भी की गई।

परिणाम की व्याख्याः– सारणी 1 में दिए गए परिणाम स्पष्टतः दर्शाते है कि तीन वर्षों की औसत पैदावार के आधार पर सबसे अधिक धान की उत्पादकता (76.71 क्विंटल/है.) वहाँ मिली जहाँ धान–गेहूँ (मेढ़)–चावला (मेढ़) फसल क्रम मेढ़ पर बिजाई द्वारा लिया गया था। इसके दूसरे स्थान पर उत्पादकता (73.37 क्विंटल/है.) शून्य जुताई विधि में प्राप्त हुई। धान के तुरंत पहले ली मूंग व चावला की हरी खाद के प्रयोग का धान की उत्पादकता पर विशेष प्रभाव नहीं दिखाई दिया क्योंकि इन उपचारों में नाइट्रोजन की मात्रा 25 प्रतिशत कम डाली गई थी। धान की उत्पादकता सबसे कम वहाँ दर्ज की गई जहाँ पर धान–सब्जी मटर–गेहूँ फसल क्रम लिया गया। तीन वर्षों के औसत के आधार पर जहाँ चावला या मूंग को धान–गेहूँ फसल प्रणाली में लिया गया था वहाँ पर गेहूँ की उत्पादकता सार्थक तौर पर समान पाई गई। गेहूँ की अधिकतम उत्पादकता (53.15 क्विंटल/है.) वहाँ मिली जहाँ मेढ़ बीजाई में गेहूँ के बाद मूंग को उगाया गया था। गेहूँ की सबसे कम उत्पादकता वहाँ मिली जहाँ गेहूँ को सब्जी मटर के बाद उगाया गया था। तीन वर्षों के औसत के आधार पर मूंग, सब्जी मटर और चावला की उत्पादकता क्रमशः 10.15 से 11.39 क्विंटल/है., 41.45 से 49.41 क्विंटल/है. तथा 15.35 से 29.55 क्विंटल/है. दर्ज की गई। विभिन्न जुताई विकल्पों में मूंग एवं चावला की अधिकतम उत्पादकता मेढ़ बिजाई के अंतर्गत पायी गई जबकि सब्जी मटर की शून्य जुताई के अंदर पाई गई।

तीन वर्षों के औसत के आधार पर सघनता बढ़ाने से गेहूँ की समतुल्याँक उत्पादकता में सार्थक वृद्धि दर्ज की गई (सारणी 2) अधिकतम गेहूँ समतुल्याँक उत्पादकता (152.13 क्विंटल/है.) मेढ़ पर बीजे गए धान–गेहूँ–मूंग फसल–चक्र में प्राप्त हुई। द्वितीय स्थान पर यही फसल क्रम शून्य जुताई के अंदर पाया गया। सबसे कम गेहूँ समतुल्याँक उत्पादकता धान–गेहूँ फसलचक्र में पाई गई। धान–गेहूँ फसलचक्र के बीज सब्जी मटर उगाने में सबसे कम समतुल्याँक उत्पादकता प्राप्त हुई चाहे जुताई विधि कोई भी हो। जबकि धान–गेहूँ के बाद मूंग उगाने से सभी जुताई विधियों ज्यादा गेहूँ समतुल्याँक उत्पादकता दर्ज की गई। सबसे अधिक उत्पादन दक्षता (46–81 क्विंटल/है./दिन) वहाँ पाई गई जहाँ धान–गेहूँ–चावला को सामान्य जुताई विधि द्वारा उगाया गया। अधिकतम भू–उपयोग दक्षता (89.04 प्रतिशत) धान–गेहूँ–मूंग/चावला फसलचक्र में व न्यूनतम (69.86 प्रतिशत) धान–गेहूँ फसलचक्र में दर्ज की गई।

भारत के उत्तर–पश्चिमी मैदानी क्षेत्र में किसान संसाधनों का बेहताशा दोहन करते हुए ग्रीष्मकालीन धान उगा रहे हैं। इस प्रक्रिया के लगातार प्रचलन से भू–जल का स्तर लगातार नीचे जा रहा है जिसके फलस्वरूप किसानों को अपने ट्यूबवेलों की गहराई को बढ़ाना पड़ रहा है। पंजाब में 1982–87 के दौरान प्रति वर्ष लगभग 18 सें.मी. की गिरावट भू–जल स्तर में दर्ज की गई। यही गिरावट 1997–2002 के दौरान 42 सें.मी प्रतिवर्ष और 2002–06 के दौरान 75 सें.मी. प्रति वर्ष दर्ज की गई। इस समस्या के समाधान हेतु कृषि वैज्ञानिकों ने कुछ विकल्प सुझाए हैं, उनमें से एक यह है ग्रीष्मकालीन धान की जगह पर ग्रीष्मकालीन मूंग या चावला उगाया जाए जिसमें न केवल दलहनों का उत्पादन बढ़े बल्कि भू–जल संरक्षण के साथ भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि की जा सके। इन दलहनी फसलों को उगाने से धान या गेहूँ की उत्पादकता तो नहीं बढ़ी लेकिन नाईट्रोजन की 25 प्रतिशत मात्रा की बचत अवश्य हुई जो कि भू–उर्वरता का सीधा–सीधा परिचायक है। पहले भी कई वैज्ञानिकों ने पाया है कि धान–गेहूँ प्रणाली में यदि हम ग्रीष्म कालीन मूंग या चावला जैसी दलहनी फसलों ले तो 25 प्रतिशत नाईट्रोजन की बचत हो सकती है। अगर लम्बे समय तक धान–गेहूँ प्रणाली में दलहनी फसलों का समावेश किया जाता है तो इससे न केवल भू–जल की बचत होगी बल्कि भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने के साथ–साथ मिट्टी की भौतिक–रासायनिक गुणवत्ता में भी सुधार होगा। इन दलहनी फसलों में कोई खाद भी डालने की आवश्यकता नहीं है जिसमें लागत में कमी के कारण शुद्ध मुनाफे में भी वृद्धि होती है।

आर्थिक विवेचना

मेढ़ पर बोये गए धान–गेहूँ–मूंग फसलचक्र से सबसे ज्यादा कुल आय (1,82,551 रूपये प्रति/है.) प्राप्त हुई इसके बाद दूसरे नम्बर पर यही फसलचक्र शून्य जुताई के अंदर पाया गया जिसमें कुल आय (1,74,498 रूपये प्रति/है.) मिली। दूसरी और सबसे क्रम कुल आय (129648 रूपये प्रति/है.) धान–गेहूँ फसलचक्र से मिली। सबसे अधिक उत्पादन लागत (1,34,450 रूपये प्रति/है.) धान–सब्जी मटर–गेहूँ मेढ़ पर बिजाई उपचार में थी और सबसे कम (1,20,600 रूपये प्रति/है.) धान–गेहूँ फसलचक्र में थी। सबसे ज्यादा शुद्ध लाभ (49351 रूपये प्रति/है.) मेढ़ पर बोए गए धान–गेहूँ–मूंग फसल में मिला और सबसे कम (9048 रूपये प्रति/है.) धान–गेहूँ फसलचक्र से मिला। सबसे ज्यादा लाभः लागत अनुपात (1.37) धान–गेहूँ–मूंग फसलचक्र में मिला जब गेहूँ व मूंग फसल को चाहे मेढ़ पर या शून्य जुताई द्वारा बोया गया। सबसे कम लाभः लागत अनुपात (1.07) धान–गेहूँ सामान्य जुताई फसलचक्र में मिला (सारणी 2)। ये परिणाम दर्शाते हैं कि केवल धान–गेहूँ उगाने से किसानों को सबसे कम लाभ मिलता है। यदि वे दलहन फसलों को भी साथ लगाते हैं तो उनके शुद्ध मुनाफे में आशातीत वृद्धि दर्ज की जा सकती है। ये परिणाम दर्शाते है कि समय की मांग को देखते हुए धान–गेहूँ फसल प्रणाली में सघनता की अति आवश्यकता है और दलहनी फसलों की ग्रीष्मकालीन पैदावार इसका बहुत अच्छा विकल्प बन सकता है।

निष्कर्ष

तीन वर्षों के इस अनुसंधान से यह निष्कर्ष निकलता है कि धान–गेहूँ फसलचक्र को ग्रीष्मकालीन दलहनी फसलों के उपयोग द्वारा सघनीकरण कर सकते हैं। इससे अधिक आय के साथ–साथ शुद्ध मुनाफे व शुद्ध लाभः लागत अनुपात में भी वृद्धि होती है। भू–जल संरक्षण के साथ–साथ भूमि की उर्वरा शक्ति भी बढ़ती है। 25 प्रतिशत नाईट्रोजन की भी बचत होती है। छोटे तथा सीमांत किसानों की परिवार की काम की मांग की भी पूर्ति इस फसल सघनीकरण से हो सकती है।

सारणी 1: धान, गेहूँ, सब्जी मटर तथा चावला की तीन वर्षों की औसत उत्पादकता

उपचार	धान की उत्पादकता (कु./है.)	गेहूँ की उत्पादकता (कु./है.)	मूंग/सब्जी मटर/ चावला की उत्पादकता (कु./है.)
धान (रोपित)–गेहूँ (शून्य जुताई)–मूंग (शून्य जुताई)	71.33	51.44	10.41
धान (रोपित)–सब्जी मटर (शून्य जुताई)–गेहूँ (शून्य जुताई)	70.02	24.42	49.41
धान (रोपित)–गेहूँ (शून्य जुताई)–चावला (शून्य जुताई)	73.37	52.76	15.35
धान (रोपित)–गेहूँ (मेड़ बिजाई)–मूंग (मेड़ बिजाई)	72.58	53.24	11.39
धान (रोपित)–सब्जी मटर (मेड़ बिजाई)–मूंग (शून्य जुताई)	72.97	25.07	45.78
धान (रोपित)–गेहूँ (मेड़ बिजाई)–चावला (मेड़ बिजाई)	76.71	53.15	29.55

धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)–मूंग (सामान्य जुताई)	70.63	51.41	10.15
धान (रोपित)–सब्जी मटर (सामान्य जुताई)–गेहूँ (सामान्य जुताई)	71.52	27.41	41.45
धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)–चावला (सामान्य जुताई)	71.29	51.02	16.18
धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)	71.91	51.44	–

सारणी 2: धान, गेहूँ सघनता विकल्पों का गेहूँ की संतुल्यांक उत्पादकता एवं आर्थिक प्राप्ति पर प्रभाव (तीन वर्षों की औसत के आधार पर)

उपचार	गेहूँ की सम्तुल्यांक उत्पादकता (कु./है.)	उत्पादकता दक्षता (कि. ग्रा./है. दिन)	भू–उपयोग दक्षता (प्रतिशत)	कुल आमदनी (रू.)	आर्थिक प्राप्ति (रू./है.)		
					लागत (रू.)	शुद्ध आय (रू.)	लाभः लागत अनुपात
धान (रोपित)–गेहूँ (शून्य जुताई)–मूंग (शून्य जुताई)	145.42	44.74	89.04	174498	127575	46923	1.37
धान (रोपित)–सब्जी मटर (शून्य जुताई)–गेहूँ (शून्य जुताई)	125.56	43.30	79.45	150675	128825	21850	1.17
धान (रोपित)–गेहूँ (शून्य जुताई)–चावल (शून्य जुताई)	126.84	39.03	89.04	152206	128325	23881	1.19
धान (रोपित)–गेहूँ (मेड़ बिजाई)–मूंग (मेड़ बिजाई)	152.13	46.81	89.04	182551	133200	49351	1.37

धान (रोपित)–सब्जी मटर (मेड़ बिजाई)–मूंग (शून्य जुताई)	124.94	43.08	79.45	149934	134450	15484	1.12
धान (रोपित)–गेहूँ (मेड़ बिजाई)–चावल (मेड़ बिजाई)	144.34	44.41	89.04	173206	133950	39256	1.29
धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)–मूंग (सामान्य जुताई)	143.78	44.24	89.04	172533	133200	39333	1.30
धान (रोपित)–सब्जी मटर (सामान्य जुताई)–गेहूँ (सामान्य जुताई)	122.86	42.37	79.45	147433	134450	12983	1.10
धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)–चावल (सामान्य जुताई)	124.04	38.17	89.04	148847	133950	14897	1.11
धान (रोपित)–गेहूँ (सामान्य जुताई)	108.04	42.37	69.86	129648	120600	9048	1.08

लाभदायक एवं टिकाऊ सब्जी उत्पादन हेतु संरक्षित खेती विधियाँ

सुरेश चंद राणा

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान क्षेत्रीय स्टेशन, करनाल–132001

भारत का सब्जी उत्पादन में चीन के बाद दुसरा स्थान है। पिछले 2–3 दशकों के दौरान हमारे देश के सब्जी उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है परंतु सब्जी फसलों की उत्पादकता विश्व की औसत उत्पादकता से कम है। भारत में सब्जी फसलों की कम उत्पादकता का एक कारण इनका खुले वातावरण में उगाया जाना तथा कृषकों द्वारा सब्जी फसलों के उत्पादन हेतु परंपरागत विधियों तथा तकनीकों का उपयोग किया जाता है। हमारे देश के अधिकतर भागों में सब्जी फसलों की उत्पादकता तथा गुणवत्ता वर्षा काल में सर्वाधिक प्रभावित होती है। वर्षा काल में अधिक आर्द्रता एवं तापमान के कारण सब्जी फसलों में विभिन्न प्रकार के कवक एवं जीवाणु जनित रोगों तथा हानिकारक कीटों का प्रकोप बढ़ जाता है। इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में अधिक तापमान, अधिक प्रकाश व कम आर्द्रता तथा सर्दियों में पाले के कारण सब्जी फसलों की उत्पादकता तथा गुणवत्ता व्यापक रूप से प्रभावित होती है। ग्रीन हाउस/पोली हाउस/नेट हाउस/शेड हाउस आदि संरक्षित उत्पादन तकनीकों के उपयोग से सब्जी फसलों को खुले वातावरण में उगाये जाने के कारण होने वाली हानि से बचाया जा सकता है। हमारे देश में पिछले 10–15 वर्षों में पौध उत्पादन, सब्जी उत्पादन तथा बीज उत्पादन हेतु ग्रीन हाउस/पोली हाउस/नेट हाउस आदि संरचनाओं के उपयोग में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। ग्रीन हाउस को संरक्षित खेती का पर्याय माना जाता है। जिसमें आवश्यकतानुसार पर्यावरण नियंत्रण कर वांछित कृषि कार्य किया जा सके। संरक्षित खेती का मुख्य उद्देश्य सब्जी फसलों को हानिकारक जैविक तथा अजैविक कारकों से बचाकर उगाना है। जैविक कारकों में विभिन्न रोग व हानिकारक कीट तथा अजैविक कारकों में तापमान, आर्द्रता व प्रकाश प्रमुख है। संरक्षित उत्पादन प्रौद्योगिकी विभिन्न प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्रों में विभिन्न फसलों को उगाने हेतु कारगर एवं उपयोगी है। सब्जी उत्पादन हेतु उचित तथा उपयुक्त संरक्षित प्रौद्योगिकी की आवश्यकता मुख्यतः उस क्षेत्र की जलवायु पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त किसानों की आर्थिक दशा, बाजार की उपलब्धता, बिजली की उपलब्धता आदि कारक भी इसको निर्धारित करते हैं। टमाटर, शिमला मिर्च, बैगन, खीरा, घिया/लौकी, चप्पनकद्दू, खरबूज आदि विभिन्न सब्जियों का स्वस्थ एवं रोग रहित पौध उत्पादन तथा वर्ष भर व बेमौसमी सब्जी उत्पादन हेतु मुख्यतः वातावरण अनुकुलित ग्रीन हाउस, प्राकृतिक वायु संवाहित ग्रीन हाउस, कम लागत वाले पॉली हाउस, प्लास्टिक लो–टनेल, वाक–इन–टनेल, कीट अवरोधी नेट हाउस तथा छायादार नेट हाउस/शेड हाउस आदि को आवश्यकतानुसार उपयोग में लाया जाता है।

संरक्षित उत्पादन तकनीक के मुख्य लाभ

6. सब्जियों को लम्बी अवधि तक उगाकर उनकी उपलब्धता को बाजार में लगातार बनाए रखना
7. अधिक रोजगार सृजन एवं कम क्षेत्रफल में अधिक लाभ
8. शहरी क्षेत्रों के पास खेती करने वाले किसानों के लिए लाभदायक
9. मुख्य हानिकारक जैविक तथा अजैविक कारकों से फसल की सुरक्षा
10. जैविक फसल उत्पादन में सहयोगी
11. सुरक्षित सब्जी एवं बीज उत्पादन
12. उच्च फसल उत्पादकता एवं उच्च उत्पाद गुणवत्ता
13. बेमौसमी फसल उत्पादन
14. प्राकृतिक साधनों जैसे भूमि, पानी आदि का समुचित सदुपयोग

सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली : जल उपयोग दक्षता बढ़ाने हेतु उन्नत सिंचाई प्रणाली

राजपाल मीना, अंकिता झा, कैलाश प्रजापत, राहुल कुमार, अनुज कुमार, ममता काजला* एवं आर. के. शर्मा*

**वरिष्ठ शोध अध्येता*

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

फसल की वृद्धि, विकास, फलना–फूलना इत्यादि के लिए सिंचाई जल की अत्यंत आवश्यकता होती है। भूमि से जल का ह्रास निरन्तर कई प्रक्रियाओं के माध्यम से होता रहता है, जैसे कि वाष्पीकरण तथा वाष्पोत्सर्जन की क्रिया, निक्षालन (लीचिंग), रिसाव (सिपेज) इत्यादि, जिसकी क्षतिपूर्ति के लिए फसल में अतिरिक्त जल की आपूर्ति की जाती है, उसे सिंचाई कहते हैं।

फसल उत्पादन में सिंचाई जल एक महत्त्वपूर्ण आगत है, तथा फसल उत्पादन में प्रयुक्त सम्पूर्ण आगत का बड़ा भाग जल या सिंचाई प्रबन्धन पर व्यय होता है क्योंकि सिंचाई व्यवस्था फसल पैदावार को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

दुनिया के किसी भी हिस्से में सिंचाई में प्रयुक्त होने वाला जल सीमित मात्रा में उपलब्ध है, जबकि अनेक हिस्सों में इसकी उपलब्धता न के बराबर है। ऐसे क्षेत्र कृषि के लिए सिर्फ वर्षा पर ही आधारित होते हैं, जिनको वर्षा आधारित क्षेत्र एवं वर्षा आधारित खेती कहते हैं।

यह प्राकृतिक संसाधन बहुत ही सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं तथा समय के गुजरने के साथ इसकी उपलब्धता कम होती जा रही है।

तालिका 1: भारत में प्रति व्यक्ति जल की उपलब्धता

वर्ष	जनसंख्या (मिलियन)	प्रति व्यक्ति जल उपलब्धता
1951	361	5177
1955	395	4732
1991	846	2209
2001	1027	1820
2025	1394	1341
2050	1640	1140

स्रोत : भारत सरकार, 2009

तालिका–1 से स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भविष्य में जल की उपलब्धता कम होगी। अतः इस महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन का उपयोग बहुत नियोजित तरीके से करने की आवश्यकता है।

उपलब्ध जल संसाधन का सबसे अधिक उपयोग कृषि में सिंचाई के लिए ही किया जाता है। कुल उपयोग जल का लगभग 70 प्रतिशत भाग सिंचाई में प्रयुक्त होता है। अतः सिंचाई के वह तरीके उपयोग में लाने चाहिए

जिनसे हम कम से कम जल का उपयोग करके वांछित उत्पादन प्राप्त कर सकें और जल की उपयोग दक्षता में वृद्धि कर सकें।

जल उपयोग दक्षता को प्रभावित करने वाले कारकः

1. सिंचाई की विधियाँ
2. मृदा के प्रकार
3. फसल विशेष/फसल अवशेष
4. पोषक तत्व प्रबन्धन
5. क्षेत्र विशेष की जलवायु

सिंचाई विधियाँः सिंचाई के उचित तरीके का चुनाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सिंचाई विधि का चुनाव भूमि के प्रकार स्थलाकृति (ढलान), फसल, जल स्रोत व उसकी प्रवाह की मात्रा के अनुसार किया जाता है।

परम्परागत विधियाँः तोड़ सिंचाई (Flood Irrigation), नकवार सिंचाई, क्यारियों मे सिंचाई, इत्यादि हैं, लेकिन इन विधियों की जल दक्षता काफी कम होती है (लगभग 30 प्रतिशत)। इसके अलावा सिंचाई की कूड़ (फर्रो) विधि है, जिसमें पानी की 20–30 प्रतिशत कम आवश्यकता होती है। गन्ना, आलू, चुकन्दर, शकरकन्द आदि फसलें जो मेंड़ पर उगाई जाती है, उनके लिए यह एक कारगर विधि है। लेकिन जिस भूमि में ढलान 0.3 प्रतिशत से अधिक है, उनके लिए यह उपयुक्त विधि नहीं है क्योंकि भूमि का कटाव शुरू हो जाएगा।

चित्र 1 : तोड़ सिंचाई (Flood Irrigation) : अत्यधिक जल का इस्तेमाल, कम जल उपयोग दक्षता

आधुनिक विधियाँः

सूक्ष्म सिंचाई विधियाँ :–

इसके अन्तर्गत बूंद–बूंद सिंचाई विधि, फव्वारा सिंचाई, मिस्ट सिंचाई इत्यादि आते हैं, लेकिन बूंद–बूंद (टपका/ड्रिप) एवं फव्वारा (स्प्रिंकलर) विधियाँ काफी कारगर साबित हुई हैं तथा धीरे–धीरे यह किसानों के बीच अपनी

पहुँच बना रही हैं। इन दोनों ही विधियों से 80 प्रतिशत तक जल उपयोग दक्षता हासिल की जा सकती है, जो कि परम्परागत विधियों में लगभग 30 प्रतिशत तक रहती है।

"ड्रिप सिंचाई का आविष्कार सर्वप्रथम इजरायल में हुआ था, जिसका उपयोग आज दुनिया के अनेक देशों में हो रहा है तथा भविष्य में और अधिक बढ़ेगा"

चित्र 2 : ड्रिप सिंचाई प्रणाली, अधिक जल उपयोग दक्षता

बूंद–बूंद सिंचाई विधिः पानी की अत्यन्त कमी वाले क्षेत्रों के लिए यह विधि अत्यन्त उपयोगी है अर्थात् जैसे–जैसे सिंचाई जल की उपलब्धता कम होती जाएगी इस विधि को अपनाना पड़ेगा। अतः जल बचाने की दिशा में किसानों को पहल करनी चाहिए तथा इस विधि को यथासम्भव शीघ्र अपनाना चाहिए क्योंकि इस विधि में जल सीधा फसल के जड़ क्षेत्र में उपलब्ध कराया जाता है। इसलिए वाष्पीकरण द्वारा जल का नुकसान कम से कम होता है, जल पाईपों के द्वारा स्रोत से खेत तक और खेत में प्लास्टिक के लेट्रल (कम व्यास की पाईप) के द्वारा जड़ क्षेत्र में पहुँचाया जाता है, इसलिए परिवहन के दौरान जल का नुकसान बिल्कुल नहीं होता क्योंकि जल सिर्फ जड़ क्षेत्र तक सीमित रहता है, इसलिए खरपतवारों की वृद्धि बहुत कम होती है जिससे जल का नुकसान भी कम होता है।

"ड्रिप सिंचाई की वह विधि है जिसमें जल को धीमी गति से बूँद–बूँद में रूप से फसलों के जड़ क्षेत्र में एक छोटी व्यास की प्लास्टिक पाईप से पहुँचाया जाता है "

इन सबके चलते जल की बचत होती है और उपलब्ध जल स्त्रोत से अधिक क्षेत्र को सिंचित किया जा सकता है और अधिक पैदावार ली जा सकती है। क्योंकि सिंचाई की यह विधि वाल्व से नियन्त्रित की जाती है। अतः केवल एक व्यक्ति ही बड़े क्षेत्र को आसानी से सींच सकता है, जिससे श्रम की बचत होती है। पहले इस विधि द्वारा बाग–बगीचे ही सींचे जाते थे लेकिन यह विधि हर प्रकार की फसलों (गेहूँ, मक्का, गन्ना, बाजरा, कपास, सरसों इत्यादि) सब्जियों (टमाटर, बैंगन, मिर्च, आलू इत्यादि) तथा सभी प्रकार के फलों की सिंचाई के लिए एक कारगर विधि है। हर प्रकार की मृदा (बलुई, दोमट, क्ले) ऊँचे–नीचे खेत, कम गुणवत्ता वाला पानी इत्यादि में यह एक सफल विधि है, जिसका किसानों को लाभ उठाना चाहिए। इस सिंचाई प्रणाली को लगाने का खर्चा एक हैक्टर के लिए लगभग 1.0 लाख रूपए आता है। ड्रिप सिंचाई में जल के साथ–साथ सभी प्रकार के उर्वरक भी बिना किसी अतिरिक्त खर्च एवं श्रम के फसल तक पहुँचाएं जा सकते हैं।

"ड्रिप सिंचाई प्रणाली में सतह वाष्पन एवं भूमि रिसाव से जल की हानि अत्यन्त कम होती है"

चित्र 3 : ड्रिप सिंचाई प्रणाली से सिंचित धान की फसल

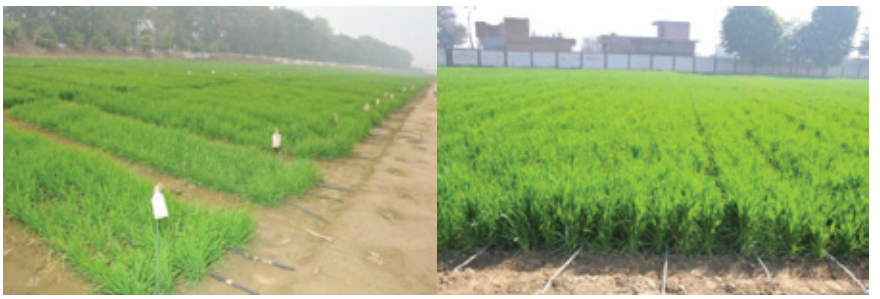

चित्र 4 : ड्रिप सिंचाई प्रणाली से सिंचित गेहूँ की फसल

ड्रिप सिंचाई प्रणाली के लाभ :

1. ड्रिप सिंचाई प्रणाली में जल उपयोग दक्षता 90 प्रतिशत तक होती है जबकि परम्परागत सिंचाई प्रणाली में 40 प्रतिशत तक ही होती है।
2. ड्रिप सिंचाई के साथ उर्वरकों का उपयोग करने से (फर्टिगेशन) उर्वरक उपयोग दक्षता भी बढ़ती है।
3. खरपतवारों का प्रकोप कम होता है क्योंकि सीमित सतह ही नम होती है।
4. भूमिगत रिसाव एवं सतह बहाव से हानि नहीं होती।
5. लवणीय जल को इस सिंचाई विधि से सिंचाई हेतु उपयोग में लाया जा सकता है।
6. मृदा क्षरण की सम्भावना नहीं के बराबर होती है।

फव्वारा विधि (छिड़काव विधि) : इस विधि से फव्वारे के रूप में फसलों की सिंचाई की जाती है तथा उचित दबाव द्वारा नलिकाओं के माध्यम से पानी पहुँचाया जाता है।

इस विधि में नियंत्रित छिड़काव करने के कारण भूमि कटाव नहीं होता है तथा ऊँची–नीची भूमियों में यह एक कारगर विधि है। इस विधि से उर्वरक सिंचाई जल के साथ, फसल तक पहुँचाया जाता है। इस विधि से गेहूँ, जौ, चना इत्यादि फसलों की सफलतापूर्वक सिंचाई की जाती है। फव्वारा सिंचाई प्रणाली को एक हैक्टर क्षेत्र में स्थापित करने का खर्च 80 हजार रूपए से 1 लाख रूपए तक आता है।

चित्र 5 : फव्वारा सिंचाई प्रणाली, अधिक जल उपयोग दक्षता

सूक्ष्म सिंचाई पद्धति में सरकारी सहायताः प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना तथा राष्ट्रीय बागवानी मिशन के तहत सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली को प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस योजना में सभी वर्गों के कृषकों को शामिल किया गया है। इस योजना में छोटे तथा सीमांत किसानों को पर्याप्त प्राथमिकता दी जाती है। इस सिंचाई प्रणाली को लगाने वाले कृषकों को कुल लागत का 50 प्रतिशत तक अनुदान देने का प्रावधान किया गया है। ड्रिप सिंचाई में उतनी ही जल की आपूर्ति की जाती है, जितनी फसल के लिए आवश्यक होती है। अतः इस प्रणाली को अपनाकर जल की अनावश्यक बर्बादी को रोका जाना चाहिए।

"यदि पानी का श्रोत उथला (तालाब, टैंक, नहर इत्यादि) है तो सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली (ड्रिप एवं फव्वारा) को सौर ऊर्जा से भी संचालित किया जा सकता है"

चित्र 6 : सूक्ष्म सिंचाई प्रणाली में प्रयुक्त वैन्चूरी एवं फर्टिगेशन यूनिट

जलवायु परिवर्तन के संदर्भ में सौर ऊर्जा की उपयोगिता

प्रियंका चंद्रा, सुभाष कटारे, पूनम जसरोटिया, सुधीर कुमार, वनिता पाण्डेय, पारुल सुन्धा एवं डी.पी. सिंह

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001 (हरियाणा) भारत

भा.कृ.अनु.प.–केंद्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001 (हरियाणा) भारत

जलवायु परिवर्तनः जलवायु परिवर्तन का मुख्य कारण वैश्विक गर्मी तथा ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन के परिणाम को माना जा रहा है। जलवायु परिवर्तन के प्रभाव से 19वीं सदी के बाद से पृथ्वी की सतह का तापमान 0.3 से 0.6 डिग्री तक बढ़ गया है। वैश्विक गर्मी तथा बढ़ते हुए तापमान की वजह से ग्लेशियर व पहाड़ की चोटियों पर जमी बर्फ पिघल रही है जिसके कारण पिछले कुछ दशकों में समुद्र के जल स्तर में प्रतिवर्ष 3 मिलीमीटर की बढ़ोत्तरी हुई है। जलवायु परिवर्तन का सबसे ज्यादा प्रभाव कृषि क्षेत्र पर पड़ रहा है। जीवाष्म ईंधन के उपयोग में कमी तथा प्राकृतिक ऊर्जा के स्रोत जैसे सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा आदि का उपयोग, जलवायु परिवर्तन के सुरक्षात्मक उपाय है। भारत भी जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभाव से बचने के लिए उपाय कर रहा है जिसमे वो दोतरफा दृष्टिकोण अपना रहा है पहला, कार्बन उत्सर्जन में न्यूनतम वृद्धि तथा नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत, मुख्य रूप से सौर और पवन ऊर्जा के उपयोग पर अधिक बल दे रहा है। थर्मल प्लांटों के लिए कड़े उत्सर्जन मानक लागू करने पर भी विचार कर रहा है। इसी तरह के अन्य उपायो से ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में निश्चित रूप से कमी आएगी। जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना (एनएपीसीसी) को औपचारिक रूप से 30 जून 2008 को लागू किया गया।

जलवायु परिवर्तन और राष्ट्रीय मिशनः यह राष्ट्रीय कार्य योजना, उन साधनों की पहचान करता है जो विकास के लक्ष्य को प्रोत्साहित करते हैं, साथ ही जलवायु परिवर्तन पर विमर्श के लाभों को प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय कार्य योजना के सार के रूप में आठ राष्ट्रीय मिशन हैं। वे जलवायु परिवर्तन, अनुकूलन तथा न्यूनीकरण, ऊर्जा दक्षता एवं प्रकृतिक संसाधन संरक्षण की समझ को बढ़ावा देने पर केंद्रित हैं। उसमें से राष्ट्रीय सौर मिशन प्रमुख है।

राष्ट्रीय सौर मिशनः जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना के अंतर्गत राष्ट्रीय सौर मिशन को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस मिशन का उद्देश्य देश में कुल ऊर्जा उत्पादन में सौर ऊर्जा के अंश के साथ अन्य नवीकरणीय साधनों की संभावना को भी बढ़ाना है। यह मिशन शोध एवं विकास कार्यक्रम को आरंभ करने की भी माँग करता है जो अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को साथ लेकर अधिक लागत–प्रभावी, सुस्थिर एवं सुविधाजनक सौर ऊर्जा तंत्रों की संभावना की तलाश करता है। जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना ने वर्ष 2017 तक एकीकृत साधनों से 1000 मेगावाट/वर्ष फोटोवोल्टेइक उत्पादन का लक्ष्य रखा है। साथ ही 1000 मेगावाट की संकेंद्रित सौर ऊर्जा उत्पादन क्षमता प्राप्त करने का भी लक्ष्य है।

सौर ऊर्जाः विद्युत ऊर्जा जो सूर्य से प्राप्त की जाती है उससे सौर ऊर्जा कहते हैं। सौर ऊर्जा की वास्तव में असीमित सम्भावनाएं है। यह प्रदूषण न पैदा करने वाली तथा कभी न समाप्त होने वाली ऊर्जा का सोत्र है जिसका उपयोग मानव जाति की ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किया जा सकता है। सौर ऊर्जा का उपयोग दो तरह से किया जा सकता है;

1. सौर थर्मल तकनीकः इस तकनीक से सौर उष्मा का निर्माण किया जाता है उसका उपयोग अनाज को सुखाने, जल उष्मन, खाना पकाने, प्रशीतन, जल परिष्करण तथा विद्युत ऊर्जा उत्पादन हेतु किया जाता है। इस तकनीक से चलने वाले यंत्र है; सोलर हीटर, सोलर कुकर।

2.फोटो वोल्टायिक प्रणाली: यह प्रणाली सूर्य के प्रकाश से विद्यु निर्माण का करती है जिससे प्रशीलन, तथा संचार का कार्य किया जा सकता है, साथ ही बिजली के उपकरण तथा जल–पम्प आदि भी चलाए जा सकते हैं। फोटो वोल्टायिक प्रणाली माड्यूलर प्रकार की होती है। इनमें किसी प्रकार के जीवाष्म ऊर्जा की खपत नहीं होती है तथा इनका रख–रखाव व परिचालन आसान है। साथ ही ये पर्यावरण हितैशी है। दूरस्थ स्थानों, रेगिस्तानी इलाकों, पहाड़ी क्षेत्रों, द्वीपों, जंगली इलाकों आदि, जहाँ बिजली आसानी से नहीं पहुँच सकती है। यह प्रणाली आदर्श है। फोटो वोल्टायिक प्रणाली दूरस्थ दुर्गम स्थानों की दशा सुधारने में अत्यन्त उपयोगी है।

सौर ऊर्जा का कृषि में उपयोग

देश में वर्ष में लगभग 250 से 300 दिन ऐसे होते हैं जब सूर्य की रोशनी पूरे दिन उपलब्ध रहती है जिसके कारण सौर ऊर्जा एक बेहतर विकल्प है। कृषि के उपकरणों जैसे जल पम्प आदि को चलने के लिए बिजली की जरुरत है तथा देश के सुदूर इलाकों में विद्युतीकरण नहीं है जिसके कारण मिट्टी को तेल, डीजल जैसे जीवाष्म ईधनों पर निर्भर रहना पड़ता है जीवाष्म ईधन भी वैश्विक गर्मी तथा ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन का मुख्य स्रोत्र हैं। सौर ऊर्जा, ग्रामीण क्षेत्रों में ऊर्जा की समस्या का समाधान हो सकता है

सौर ऊर्जा से चलने वाले यंत्र:

सौर वायु उष्मन: यह कटाई के पश्चात् अनाज व अन्य पदार्थों को सुखाने के प्रयोग आता है। इनके प्रयोग द्वारा खुले में अनाजों व अन्य उत्पादों को सुखाते समय होने वाले नुकसान कम किए जा सकते हैं। चाय पत्तियों, लकड़ी, मसाले आदि को सुखाने में इनका व्यापक प्रयोग किया जा सकता है।

सौर जल–पम्प: फोटो वोल्टायिक प्रणाली द्वारा चलने वाला पम्पिंग सेट है। सौर ऊर्जा ईंधन का स्रोत्र है तथा कोई ईंधन का मासिक बिल नहीं है। इसके उपयोग से खेती में लागत कम होगी तथा किसानों की आय में बढ़ोत्तरी होगी। यह तकनीक पानी संरक्षण के लिए एक अत्यन्त उपयोगी प्रणाली है। इसके उपयोग से जीवाष्म ऊर्जा की बचत होगी तथा पर्यावरण प्रदूषण की रोकथाम होगी। सौर जल पम्प प्रणाली में 100 वाट का फोटो वाल्टायिक माड्यूल, एक मोटर युक्त पम्प एवं अन्य आवश्यक उपकरण होते हैं।

फोटोवोल्टायिक सेल: फोटोवोल्टायिक सेलों से ग्रामीण विद्युतीकरण किया जा सकता है। इन पर आधारित बिजली घरों से ग्रिड स्तर की बिजली ग्रामवासियों को प्रदान की जा सकती है। इन बिजली घरों में अनेकों सौर सेलों के समूह, स्टोरेज बैटरी एवं अन्य आवश्यक नियंत्रक उपकरण होते हैं। बिजली को घरों में वितरित करने के लिए स्थानीय सौर ग्रिड की आवश्यकता होती है। इन संयंत्रों से ग्रिड स्तर की बिजली व्यक्तिगत आवासों, सामुदायिक भवनों व व्यापारिक केन्द्रों को प्रदान की जा सकती है। इनकी क्षमता 1.25 किलोवाट तक होती है।

सौर प्रकाश प्रणालीः ग्रामीण इलाकों में सार्वजनिक स्थानों एवं गलियों, सड़कों आदि पर प्रकाश करने के लिए ये उत्तम प्रकाश स्रोत है। इसमें 74 वाट का एक फोटो वोल्टायिक माड्यूल, कम रख–रखाव वाली बैटरी तथा 11 वाट का एक फ्लुओरेसेन्ट लैम्प होता है। शाम होते ही यह अपने आप जल जाता है और प्रातः काल बुझ जाता है।

सौर लालटेनः सौर लालटेन एक हल्का, कहीं भी ले जाने योग्य, फोटो वोल्टायिक तंत्र है। इसके अन्तर्गत लालटेन, रख रखाव रहित बैटरी, इलेक्ट्रानिक नियंत्रक प्रणाली, व 7 वाट का छोटा फ्लुओरेसेन्ट लैम्प युक्त माड्यूल तथा एक 10 वाट का फोटो वोल्टायिक माड्यूल आता है। यह घर के अन्दर व घर के बाहर प्रतिदिन 3 से 4 घंटे तक प्रकाश दे सकने में सक्षम है। मिट्टी के तेल पर आधारित लालटेन, ढिबरी, पेट्रोमैक्स आदि का यह एक आदर्श विकल्प है। इससे न तो धुआँ निकलता है और न आग लगने का खतरा है साथ ही स्वास्थ्य को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता है।

जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों से बचाने के लिए हमें अपने संसाधनों का न्याय संगत इस्तेमाल करना होगा तथा इस तरह के उपकरणों के उपयोग के बारे में जागरूकता बढ़ानी होगी। जलवायु परिवर्तन के बढ़ते दुष्प्रभावों के कारण अब इस बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि हमें कृषि में ही नहीं, अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में भी ऐसे पर्यावरण मित्र तरीकों को अहमियत देनी चाहिये जिनसे हम अपने प्राकृतिक संसाधनों को बचा सकें व अपनी धरती को बचा सकें।

जलवायु दक्ष गाँवों का विकास एवं प्रसार

सत्यवीर सिंह, सेंधिल आर., अनुज कुमार एवं अनिता मीणा

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

जलवायु परिवर्तन प्रबल ध्यान एवं सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च प्राथमिकता प्राप्त कर एक समकालीन विकास का मुद्दा बन गया है। कृषि उत्पादन शायद सर्वाधिक जलवायु संवेदनशील क्षेत्र है, जिसमें उत्पादन मामूली जलवायु परिवर्तनशीलता से सीधा प्रभावित होता है, लगातार एवं तीव्र चरण जलवायु पूर्व अनुभावित निरंतर एवं तीव्र चरण जलवायु घटनाओं का वर्णन अनावश्यक है। तापमान एवं वर्षा में धीमे शुरूआती परिवर्तन की वजह से गंभीर रूप से खाद्य सुरक्षा को पर्याप्त अनुकूल एवं शमन प्रयासों के अभाव में दुष्प्रभाव पहुँचने की उम्मीद है। प्रायः निर्धन ग्रामीण लोग जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से सर्वाधिक पीड़ित हैं जिनकी आजीविका व खाद्य सीधे कृषि पर निर्भर है। कृषि प्रणालियों का जलवायु परिवर्तन से लचीलापन बढ़ाना, उनके जलवायु परिवर्तन से अनुकूलन के लिए आवश्यक है।

भारतीय कृषि के क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन से उत्पन्न चुनौतियाँ, अन्योन्याश्रित के रूप में देखी जाती हैं एवं क्षेत्र के भीतर के विभिन्न दबावों के संगम/एकाग्रता से आकार लेती हैंः जनसंख्या का आकार एवं भोजन के लिए बढ़ती माँग; भूमि, जल, ऊर्जा व अन्य महत्वपूर्ण आदानों के लिए प्रतियोगिता तेज हो रही है। प्राकृतिक संसाधनों के क्षण का विस्तार हो रहा है। जलवायु परिवर्तन का समाधान ज्यादा आवश्यक हो रहा है। उत्पादन की विभिन्न चुनौतियों का एक दूसरे से अलग की तुलना में एक साथ समाधान किया जाना चाहिए।

कृषि से खाद्य सुरक्षा एवं पोषण सुरक्षा की प्राप्ति, जनसंख्या, जलवायु परिवर्तन के प्रभाव एवं कृषि वृद्धि से उत्सर्जन से वर्तमान कृषि उत्पादन प्रणाली के असामयिक परिवर्तन की आवश्यकता होगी। हालांकि, ज्ञान के अन्तराल इस संक्रमण को सीमित कर रहे हैं। किसानों को अधिक जलवायु दक्ष बनाने के लिए विशिष्ट कृषि पारिस्थितिक क्षेत्रों के भीतर कृषि पद्धतियों की बेहतर समझ की आवश्यकता है।

किसान द्वारा कृषि पद्धतियों के अंगीकरण के लिए बाधाओं की एक बेहतर समझ की आवश्यकता है। कई शामिल उद्देश्यों के लिए एक समग्र दृष्टिकोण को नीतियों के बेहतर तालमेल के साथ–साथ राष्ट्रीय स्तर पर अधिक से अधिक सहयोग एवं समन्वय की आवश्यकता है। खाद्य एवं पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए क्षेत्रिय स्तर के अनुभवों को राष्ट्रीय स्तर पर तन्त्र को सक्रिय करने के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए।

जलवायु दक्ष कृषि

जलवायु दक्ष कृषि, जलवायु परिवर्तन शमन के बीच की सहक्रियाओं के बनाने, अनुकूलन एवं खाद्य सुरक्षा जिसका कृषि के साथ करीबी सम्बंध है व सम्भावित नकारात्मक व्यापार–नापसंद को कम करने से सम्बंधित है, की चुनौतियों का समाधान करता है। यह कृषि क्षेत्र की क्षमता को, खाद्य सुरक्षा को टिकाऊ रूप से समर्थन करने के लिए यह कृषि क्षेत्र की क्षमता में वृद्धि करना, अनुकूलन की जरूरत एवं विकास रणनीतियों में शमन के लिए क्षमता को शामिल करना चाहता है। जलवायु दक्ष कृषि का कोई खाका तैयार नहीं है और समुदायों के विशिष्ट सन्दर्भ में इस बात की आवश्यकता होगी कि कैसे यह अन्ततः कार्यान्वित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर कुछ प्रकार की कृषि पद्धतियाँ, शमन, अनुकूलन एवं खाद्य सुरक्षा के बीच में सहयोग उत्पन्न करती हैं–जैसे संरक्षण कृषि, जिससे मिट्टी में कार्बन की जबती बढ़ने के साथ–साथ जल धारण क्षमता बढ़ जाती है, जिससे सूखे को सहन करने में योगदान होता है एवं बाढ़ से होने वाला नुकसान कम होता है। अन्य मामलों में व्यापार–नापसन्द होते हैं, जैसे कृषि उपयोग के लिए वन भूमि का रूपांतरण। भारत में आबादी के एक बड़े

हिस्से को, कृषि उत्पादन से जुड़े होने एवं खाद्य असुरक्षा की दर के साथ, अक्सर अपनी कृषि विकास की रणनीतियों पर तत्काल एवं मुश्किल निति विकल्प बनाने के लिए बाध्य किया जाता है।

जलवायु दक्ष कृषि, उत्पादकता एवं आय में टिकाऊ रूप से वृद्धि करने का प्रयास करती है, लचीलापन एवं अनुकूलन क्षमता का निर्माण करती है, एवं जहाँ सम्भव हो ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को कम करती है। यह राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा एवं विकास के लक्ष्यों की उपलब्धि/प्राप्ति को बढ़ाने के लिए काम करता है। जलवायु दक्ष कृषि स्थान विशिष्ट है एवं एक स्थान विशेष की कृषि पारिस्थितिकी व सामाजिक–आर्थिक स्थितियों के अनुरूप फिट है। एक क्षेत्र में काम करने वाले हस्तक्षेप दूसरे क्षेत्र में लागू नहीं हो सकते।

जलवायु दक्ष गाँवों का जलवायु दक्ष खेती के तरीकों के साथ पोषण

जलवायु दक्ष गाँव वे स्थान हैं जहाँ पर शोधकर्ता राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, किसानों की सहकारी समितियों, स्थानीय सरकार के नेताओं, निजि क्षेत्र के संगठनों एवं प्रमुख नितिगत योजनाकारों से शोधकर्ता एक साथ आकर यह पहचान करते हैं कि कौन सा 'जलवायु दक्ष कृषि हस्तक्षेप', जलवायु एवं कृषि की चुनौतियों से निपटने के लिए उपयुक्त है। ग्राम विकास योजना में 'जलवायु दक्ष कृषि' को एकीकृत करने के लिए स्थानीय ज्ञान एवं विशेषज्ञता एवं स्थानीय संस्थाओं द्वारा समर्थन का उपयोग करने का विचार है। जलवायु दक्ष गाँव एक हस्तक्षेप के पोर्टफोलियो का अंगीकरण करता है जो कृषि गतिविधियों का पूरा स्पेक्ट्रम कवर करता है। इनमें जल दक्ष पद्धति सम्मिलित है, (जैसे वर्षा जल का संचयन, लेजर भूमि समतलीकरण, सूक्ष्म सिंचाई, मेंढ़ पर बीजाई, फसल विविधिकरण, चावल में वैकल्पिक गीला करना एवं सुखाना),

धान की सीधी बीजाई, मौसम दक्ष गतिविधियां (एकीकृत संरक्षित प्रौद्योगिकी–आधारित कृषि मौसम सेवाएं, सूचकांक आधारित बीमा, सहिष्णु फसलें एवं किस्में), पोषक तत्व दक्ष पद्धति (परिशुद्धता उर्वरक का इस्तेमाल, पोषक तत्व दक्ष विशेषज्ञ निर्णय समर्थन उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए ग्रीन सीकर एवं पत्ता रंग चार्ट, अवशेष प्रबंधन, फलियाँ तोड़ने वाली फसलें, कार्बन एवं ऊर्जा दक्ष (जीरो टिलेज या शून्य जुताई, फसल अवशेष प्रबंधन, फलियाँ) एवं ज्ञान दक्ष गतिविधियाँ (किसान–किसान शिक्षा, जलवायु दक्ष कृषि पर क्षमता बढ़ाना, सामुदायिक बीज बैंक एवं सहकारी समितियाँ)। घरेलु खाद्य एवं आजीविका सुरक्षा सुनिश्चित करते हुए ये उपाय समुदाय का लचीलापन बढ़ाने के लिए एक साथ काम करते हैं। भारत में जलवायु दक्ष गाँवों की शुरूआत सन् 2011 में सबसे पहले हरियाणा में 175 प्रतिशत से अधिक सिंचाई एवं अधिकता की खेती के साथ अर्द्धशुष्क सिंचाई क्षेत्र होने के कारण हुई थी। यह क्षेत्र वार्षिक लगभग 700 मि.मि. वर्षा प्राप्त करता है। इस क्षेत्र में धान–गेहूँ की प्रमुख फसल प्रणाली के साथ डेयरी एक पूरक के रूप में किसानों द्वारा अंगीकृत है। प्रारम्भ में, जलवायु दक्ष गाँवों की अवधारणा के करनाल जिले के चार गाँवों में शुरू किया गया था। उसके बाद यह चार ब्लॉक अर्थात् नीलोखेड़ी, इन्द्री, घरौंडा एवं निसिंग में 27 गाँवों में फैल गया। जलवायु दक्ष खेती की पद्धतियों/तरीकों को मॉडल गाँवों में स्थानीय किसानों, शोधकर्ताओं एवं स्थानीय नियोजकों के परामर्श द्वारा प्राथमिकता दी गई।

पद्धतियों का मूल्यांकन उनकी खाद्य सुरक्षा, जलवायु जोखिम प्रबंधन, अनुकूलन एवं शमन क्षमता के आधार पर किया गया है। निम्नलिखित पद्धतियों को उनके उक्त मापदंडों एवं उनके हस्तक्षेप के लिए प्राथमिकता के आधार पर विचार किया गया एवं हरियाणा में लागू करने वाली साइटों के लिए निशाना बनाया गया।

1. धान की सीधी बिजाईः पारम्परिक धान की खेती में नर्सरी में धान के बीज का अंकुरण व उसके बाद अधिक जुताई किए हुए व पानी खड़े हुए खेत में पौध की रोपाई शामिल है। धान की सीधी बिजाई में किसी भी अन्य अपलैंड फसल की तरह सूखी क्यारी में धान के बीजों की सीधी बिजाई की जाती है। यह तरीका पौध की हाथ से रोपाई करने में थका देने वाली प्रक्रिया को समाप्त करता है, फसल की पानी की आवश्यकता को कम करता है एवं मिट्टी की भौतिक स्थिति में सुधार करता है।

2. धान के खेत को वैकल्पिक गीला करना व सुखाना : धान के खेतों को वैकल्पिक गीला करने एवं सुखाने की प्रक्रिया में, धान के खेतों में बार–बार पानी भरा जाता है एवं सुखाया जाता है। टैन्सियोमीटर जैसा एक निगरानी उपकरण किसानों को यह निर्णय लेने में मदद करता है कि उन्हे खेत की सिंचाई कब करनी है। वैकल्पिक गीला करने एवं सुखाने का तरीका निरन्तर पानी भरने की तुलना में 48 प्रतिशत की औसत से मीथेन का उत्सर्जन कम कर देता है। इस तरीके को सटीक उर्वरक उपकरणों के साथ संयोजित करके ग्रीन हाउस गैस का उत्सर्जन कम किया जा सकता है।

3. मौसम एवं कृषि परामर्श जानने/प्राप्त करने के लिए सूचना प्रसारण प्रौद्योगिकी: किसानों को संरक्षण कृषि पर मौसम के पूर्वानुमान, नई किस्मों, जलवायु दक्ष खेती के तरीकों एवं सुझावों के बारे में आवाज सन्देश व पाठ सन्देश द्वारा सूचना प्राप्त होती है।

4. शून्य जुताई (जीरो टिलेज): शून्य जुताई या नहीं जुताई खेती, मिट्टी को जुताई करके छेड़े बिना फसल उगाने का एक तरीका है। यह तरीका मिट्टी में पैठ करने वाले पानी की मात्रा में बढ़ोत्तरी करता है, कार्बनिक पदार्थ प्रतिधारण को बढ़ाता है एवं मिट्टी में पोषक तत्वों की साइकिल को बढ़ाता है। शून्य जुताई का तरीका मिट्टी के गुणों में सुधार करके इसे लचीला बनाता है। शून्य जुताई, टर्मिनल गर्मी के प्रभाव की बफरिंग में मदद करती है, जो कि हरियाणा में गेहूँ उत्पादन में जलवायु परिवर्तन से सम्बंधित महत्त्वपूर्ण बाधाओं में से एक है।

5. लेजर भूमि समतलन: लेजर लैंड लेवलर ट्रैक्टर के साथ जोड़ कर चलाया जाने वाला, लेजर नियंत्रित उपकरण है जो मृदा की सतह को समतल करने के लिए प्रयोग किया जाता है। समतल खेत पानी के एक समान वितरण को सुनिश्चित कर फसल की उत्पादकता को बढ़ाता है। यह ऊर्जा की क्षमता को भी बढ़ाता है क्योंकि कम पानी का सटीक वितरण बिजली के पंपों को चलाने की जरूरत को भी कम करता है।

6. अवशेष प्रबंधन/पलवार: इस प्रणाली में भूमि की सतह को वनस्पति अवशेष द्वारा ढ़क कर मृदा में कार्बनिक तत्वों की मात्रा को बढ़ाया जाता है, जिससे न केवल बीजरोपण की गुणवत्ता बढ़ती है बल्कि मृदा में जल का रिसाव और प्रतिधारण क्षमता भी बढ़ जाती है।

7. फसल विविधीकरण: फसल विविधीकरण का मुख्य उद्देश्य किसानों को अलग–अलग प्रकार की फसलें उगाने के लिए प्रेरित करना है ताकि वे आय के लिए एकल फसल पर निर्भर न रहें। यह विधि जलवायु परिवर्तन के जोखिम को कम कर के घरेलू खाद्य सुरक्षा वृद्धि को बढ़ाने वाली है। फसल चक्रीकरण में फलीदार फसल को उगाना मृदा में फसल विविधिकरण का अच्छा उदाहरण है।

8. कृषि वानिकी: फसल तथा सब्जियों के साथ वृक्षारोपण मृदा में कार्बन को बांध कर रखने तथा मृदा अपरदन को रोकने का अनूठा तरीका है। वृक्ष फसल को छाया प्रदान करने के साथ ही किसान को लकड़ी, फल, ईंधन तथा चारा प्रदान करते है। ऐसी स्वस्थ पारिस्थितिकी पक्षियों, कीड़ों व अन्य जीव जंतुओं को निवास प्रदान कर जैव विविधता को बढ़ाने में अहम् भूमिका निभाती है।

9. स्टीक पोषक तत्व प्रबंधन: कुछ उपकरण जैसे पोषक तत्व विशेषज्ञ निर्णय समर्थन उपकरण, लीफ कलर चार्ट, ग्रीन सीकर इत्यादि किसान को उर्वरक की सही मात्रा का ज्ञान कराते हैं, जिससे किसान आवश्यकता के अनुरूप ही उर्वरक का प्रयोग करें। आवश्यकता से अधिक उर्वरक का प्रयोग न केवल लागत को बढ़ाता है बल्कि मृदा के स्वास्थ्य को खराब कर भूमिगत जल को भी दूषित करता है। यह ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन का भी एक प्रमुख कारण है।

क) पोषक तत्व विशेषज्ञ एक निर्णय समर्थ उपकरण है, जो किसान को सही स्थान पर उर्वरक की सही मात्रा का ज्ञान कराता है। मृदा परिक्षण के अभाव में भी यह उपकरण किसान को उर्वरक की सही मात्रा के बारे

में अवगत कराता है। पोषक तत्व विशेषज्ञ एक ऐसा सॉफ्टवेयर है, जो मुफ्त इस्तेमाल के लिए उपलब्ध है।

ख) ग्रीन सीकर एक मैत्रीपूर्ण उपकरण है जो आसानी से इस्तेमाल किया जा सकता है। यह उपकरण फसल स्वास्थ्य तथा नाइट्रोजन की आवश्यकता का ज्ञान कराता है। ग्रीन सीकर का प्रयोग करके किसान उर्वरक का सही प्रयोग कर मुनाफे को बढ़ा सकता है।

ग) लीफ कलर चार्ट पत्तियों का हरापन मापने की सरल विधि है। धान, गेहूँ एवं मक्का जैसी फसलों में नाइट्रोजन की कमी का पता लगाने के लिए यह एक अच्छी विधि है।

खाद्य और पोषण सुरक्षा के लिए जलवायु दक्ष गाँवों को प्रक्षेपित करना

कृषि क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन एक ऐसा विषय है जिस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। जलवायु दक्ष खेती के तरीकों को अपनाकर तथा कृषि संबंधित प्राथमिकताओं को बदलकर इस समस्या का समाधान सम्भव है।

जलवायु दक्ष कृषि के समर्थन में किसी विशिष्ट क्षेत्र के तालमेल तथा बदलावों द्वारा ही किसान एक ऐसी प्रणाली को बनाने तथा अपनाने में समर्थ हो पाएंगें जो भविष्य में खाद्य सुरक्षा तथा जीविका का आधार बन सके। स्थाई तौर पर जलवायु दक्ष कृषि पद्धतियाँ हर क्षेत्र की कृषि परियोजना का हिस्सा बननी चाहिएं ताकि उत्पादन वृद्धि तथा किसान की आय को बढ़ाने का सपना साकार किया जा सके। इन विधियों द्वारा न केवल प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण किया जा सकेगा अपितु कृषि विविधता की भी सुरक्षा हो पाएगी।

वर्तमान परिदृश्य में भारतवर्ष की देशज पशुधन विविधता एवं उनका संरक्षण

अविनाश सिंह, सोनिका अहलावत, रेखा शर्मा एवं मधु सुदन टांटिया

भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाला देश है तथा पशुपालन व्यवसाय भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग है तथा यह लगभग दो तिहाई ग्रामीण जनसंख्या के जीवनयापन का आधार है। पशुपालन व्यवस्था मनुश्यों को दूध, अंडे तथा मांस उत्पादन के रूप में पोषक खाद्य पदार्थ तो उपलब्ध कराता ही है साथ ही यह कृषि के लिए उपयोगी भारवाही शक्ति, खाद, घरेलु ईंधन तथा पशुओं की खाल से बने उत्पाद के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराता है जो कि सामाजिक, आर्थिक एंव पर्यावरणीय महत्त्व रखते हैं। उपरोक्त उत्पादों के आधार पर ही पशुपालन व्यवसाय ग्रामीण आय एवं रोजगार का मुख्य स्त्रोत है। पशुधन ग्रामीण जनसंख्या के लिए प्राकृतिक आपदाओं जैसे सूखा, आकाल एवं अन्य आपदाओं के समय सर्वश्रेष्ठ सुरक्षित निधि का कार्य करता है। वर्ष 2013–14 के आंकड़ों के अनुसार पशुधन व्यवसाय के द्वारा 137.7 मिलियन टन दूध, 74.75 बिलियन अंडे, 47.9 मिलियन कि.ग्रा. ऊन तथा 6.2 मिलियन टन मांस का उत्पादन किया गया जिसका कुल मूल्य वर्ष 2012–13 के परिपेक्ष्य में लगभग 5,37,535 करोड़ रुपये था जो कि कृषि, मत्स्य एवं वानिकी के कुल उत्पादन का लगभग 25.63 प्रतिशत वर्तमान मूल्यों में एवं 26.02 स्थिर मूल्यों (वर्ष 2004–05) में रहा, वर्ष 2012–13 के दौरान वर्तमान मूल्यों के आधार पर पशुधन व्यवसाय का कृषि क्षेत्र के सकल घरेलू उत्पाद में 27.25 प्रतिशत का योगदान रहा तथा कुल सकल घरेलू उत्पाद में 4.1 प्रतिशत का योगदान रहा। पशुधन उत्पादन में कुल उत्पादन का लगभग दो तिहाई (65 प्रतिशत) दुग्ध का तथा अन्य 19.8 प्रतिशत व 3.8 प्रतिशत मांस एवं अण्डों का योगदान है।

भारतीय परिदृश्य में पशु आनुवंशिक संसाधन

भारतवर्ष परम्परागत रूप से ही पशु जैवविविधता का मुख्य केंद्र रहा है तथा प्राचीन काल से ही गाय, भैंस, बकरी, भेड़, शूकर, ऊंट, घोड़े, गधे, याक तथा मिथुन के रूप में विभिन्न क्षेत्रों में पशुपालन व्यवसाय होता रहा है। कुक्कुट पालन के क्षेत्र में मुर्गीपालन के अलावा अन्य प्रजातियाँ जैसे कि बत्तख, गीज, कोयल, टर्की तथा तीतर आदि भी भारत वर्ष में कुक्कुट उत्पादन के रूप में उत्पादित किए जाते हैं।

भारतवर्ष विश्व में अपनी सबसे बड़ी जैव विविधता के केंद्र के रूप में जाना जाता है। भारतवर्ष की इस विशाल जैव विविधता का विस्तार एक बहुत बड़े भौगोलिक, पारिस्थितिक एवं विभिन्न प्रकार की जलवायु वाले क्षेत्रों में हैं तथा यह भारतवर्ष की ग्रामीण जनसंख्या के सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता है। वर्ष 2012 की पशुगणना के अनुसार भारतवर्ष की कुल पशुधन संख्या लगभग 512 मिलियन है जिसमें कि 191 मिलियन गायें 109 मिलियन भैंसे, 65 मिलियन भेड़ें, 135 मिलियन बकरियाँ तथा 10 मिलियन सूकर हैं। इसके आलावा लगभग 729 मिलयन कुक्कुट जनसंख्या है। अगर अंतिम दो पशु गणनाओं (वर्ष 2007 एवं 2012) की तुलना की जाए तो यह निष्कर्ष निकलता है कि गाय, भेड़ एवं बकरी की पशु संख्या में क्रमशः 0.8, 1.8 एवं 0.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की गिरावट दर्ज की गयी है। साथ ही भैंस एवं कुक्कुट की पशु संख्या में क्रमशः 0.6 एवं 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की बढ़ोतरी दर्ज की गई है। भारतवर्ष में देशज पशुओं की बहुत बड़ी संख्या है इसके अलावा कम संख्या में संकर पशु भी है। जोकि देशज एवं विदेशी पशुओं के संकर से बने हैं एवं बहुत ही कम मात्रा में विदेशी पशु भी हैं जोकि केवल प्रतिष्ठित व्यवसायिक एवं शोध प्रक्षेत्रों में पाले जाते हैं। वर्तमान समय में भारतवर्ष में पशुधन एवं कुक्कुट की 160 पंजीकृत नस्लें हैं। जिनमें से 40 गायों की 13 भैंसों की 26 बकरियों की 42 भेड़ों की, 6 घोड़ों की 9 ऊंटों की, 6 सूकरों की, 1 गधे की एवं 17 कुक्कुट प्रजाति की नस्लें

हैं। इसके आलावा अभी भी बहुत सी देशी प्रजातियों की नस्लों के पंजीकरण का कार्य शेष है तथा प्रजातियों जैसे कि खच्चर, याक, मिथुन, बतख एवं कोयल आदि की नस्लों के पंजीकरण की भी आवश्यकता है।

भारतीय पशुधन विविधता संरक्षण के गुणः

पशुधन व्यवसाय में सभी पालतू प्रजातियों की विशाल जैवविविधता भारत वर्ष में उपलब्ध है।

- सभी पालतू प्रजातियों की नस्लों की विशाल संख्या जो कि एक विशेष कृषि जलवायु के अनुकूल है।
- गाय की नस्लों में विविधतापूर्ण दुधारू, भारवान एवं द्वेध प्रकार की नस्लें। भारवान नस्लें कृषि कार्यों में अपने योगदान से जैविक ईंधन कि बचत में योगदान करती हैं।
- भारतीय पशुधन की विभिन्न नस्लें विभिन्न जलवायु परिस्थितियों जैसे की शुष्क, आर्द्र, गर्म एवं ठंडी जलवायु के अनुकूल हैं तथा ये विभिन्न नस्लें विभिन्न प्रकार की परजीवी एवं अन्य बिमारियों के प्रतिरोधी भी हैं।
- भारतीय पशुधन की नस्लें निम्न गुणवत्ता के चारे जैसे कि भूसा, सुखा चारा इत्यादि को खाकर भी उत्पादन करने की क्षमता रखती है।
- भारतीय गाय की नस्लें उच्च गुणवत्ता का ए2 प्रकार का दुग्ध उत्पादन करती है, जोकि विदेशी गायों द्वारा उत्पादित ए1 प्रकार के दुग्ध से अधिक पौष्टिक एवं स्वास्थ्यवर्धक है।
- भारतवर्ष में भैंसों की सर्वश्रेष्ठ नस्लें उपलब्ध हैं जोकि पशुधन व्यवसाय में एक बहुउद्देशीय पशु है।
- भारतवर्ष में पशुधन जैव विविधता के संरक्षण के लिए केन्द्रीय शोध संस्थानों, प्रादेशिक कृषि एव पशुपालन विश्वविद्यालयों एवं अन्य गैर सरकारी संस्थाओं का मजबूत तंत्र उपलब्ध है जो कि पशुधन विविधता संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं।

भारतीय पशुधन विविधता संरक्षण के दोष

- भारतवर्ष में वर्तमान में विभिन्न प्रजातियों की नस्लावार पशुगणना का आभाव है।
- भारतीय नस्लों का उत्पादन विदेशी नस्लों की तुलना में काफी कम है।
- पशुओं की उत्पादकता बढ़ाने हेतु प्रजनन सम्बन्धी योजनाओं का सही प्रकार से क्रियान्नवयन नहीं हो पा रहा है।
- पशु संख्या घनत्व की तुलना में चारा तथा चारागाहों की उपलब्धता काफी कम है।
- कृषकों के स्तर पर पशुओं की वंशावली से संबंधित आंकड़ों का विवरण उपलब्ध नहीं है।
- कृत्रिम गर्भधान के लिए उच्च गुणवत्ता के नरों का आभाव है।
- पशुधन विविधता संरक्षण हेतु अभी पर्याप्त प्रयास नहीं किए जा रहे हैं।
- स्थानीय स्तर पर संरक्षण हेतु ब्रीड सोसायटी एवं अन्य इस प्रकार की संस्थाओं का आभाव है।
- पशुधन उत्पादों के लिए पर्याप्त विपणन व्यवस्था का आभाव है।
- पशुधन मालिकों एवं कृषकों के लिए नस्लों के पंजीकरण हेतु आवश्यक कानूनी सहायता का आभाव है।

भारतीय पशुधन विविधता संरक्षण में अवसर

भारतीय पशुधन व्यवसाय कृषि का अभिन्न अंग है

- भारतीय पशुधन व्यवसाय का सकल घरेलू उत्पाद में महत्त्वपूर्ण योगदान है ।
- भारतीय पशुधन व्यवसाय ग्रामीण जनसंख्या को रोजगार के अवसर प्रदान करता है।
- भारतीय पशुधन की नस्लें कम गुणवत्ता के चारे में अच्छा उत्पादन करती है एवं भारतवर्ष की बड़ी जनसंख्या के भरण पोषण में सहायता करती है।
- पशुधन के जननद्रव्य जैसे कि भ्रूण/वीर्य आदि का विदेशों में निर्यात किया जा सकता है।
- भारतीय पशुधन में बड़ी संख्या में आनुवंशिक विविधता जिसका उपयोग पशुओं की उत्पादकता को बढ़ाने में किया जा सकता है।

भारतीय पशुधन विविधता संरक्षण में भय

- अनियमित प्रजनन, प्रवासन एवं पशुवध के कारण उच्च कोटि का जननद्रव्य नष्ट हो रहा है।
- अव्यवस्थित प्रजनन के कारण पशुधन का आनुवंशिक तनुकरण हो गया है।
- पशुधन का गैरकानूनी रूप से दूसरे देशों को निर्यात किया जा रहा है।
- उत्पादन तंत्र में बदलाव जिसके कारण एक ही प्रकार की नस्ल के पशुधन को बढ़ावा मिल रहा है।
- जनसंख्या वृद्धि के कारण चरागाहों की संख्या एवं क्षेत्रफल में लगातार कमी आ रही है।

भारतीय परिपेक्ष्य में पशुधन विविधता का संरक्षण

पशुधन विविधता संरक्षण एक बहु दिशात्मक प्रक्रिया है जिसमें पशुधन का संरक्षण तो किया जाता है साथ ही पशुधन की नस्लों की उन्नति एवं उचित प्रबंधन की भी व्यवस्था होती है कुल मिलाकर पशुधन संरक्षण का मुख्य उद्देश्य पशुधन संसाधन के नवीनीकरण, विस्तार एवं वहनीय उपयोग के द्वारा मानव जाति की वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करना है।

भारतवर्ष में पशुधन संरक्षण एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि भारतीय पशुधन विविधता एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैली हुई है तथा भारतीय कृषक संरक्षण के महत्त्व को उचित प्रकार से समझ नहीं पा रहा है जिस कारण से वह पशु प्रजनन सम्बन्धी वंशावली के आंकड़ों का भी लेखा–जोखा नहीं रखता है। नई प्रौद्योगिकी के आने के कारण बहुत सी पशुधन नस्लों का आर्थिक महत्त्व कम हो रहा है जिस कारण से उनका धीरे–धीरे क्षरण हो रहा है। भारतीय पशुधन की विभिन्न नस्लों के उत्पादों में भी बहुत विविधता है तथा ये उत्पाद मानव स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी हैं, अतः इन उत्पादों की विपणन प्रणाली को विकसित कर इन नस्लों के आर्थिक महत्त्व को बढ़ाया जा सकता है जो कि इन नस्लों के संरक्षण में सहायक होगा।

पशुधन विविधता का संरक्षणः मुख्यतः दो विधियों द्वारा किया जा सकता है। इन सीटू संरक्षण एवं एक्स सीटू संरक्षण।

इन–सीटू संरक्षण विधि में प्राथमिक रूप से अल्प अवधि के लिए पशुओं की विविधता को सक्रिय प्रजनन के द्वारा सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया जाता है तथा इस विविधता की दीर्घावधि के लिए कायम रखा जाता है। भा.कृ.अनु.प. –राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल के द्वारा इन–सीटू संरक्षण विधि को विकसित किया गया है तथा इसके लिए यह संस्थान कृषकों को तकनीक एवं प्रेरणा उपलब्ध करा रहा है। इस विधि में वीर्य उत्पादन

हेतु प्रजनन उपयोगी नरों की उत्कृष्ट मादाओं से प्राप्ति हेतु मुक्त नाभिक प्रजनन प्रणाली का नाभिक झुंड प्रत्येक नस्ल हेतु अलग–अलग स्थापित किया जाता है।

पशुधन संरक्षण की विधि जिसमें पशुधन का संरक्षण उनके उद्‌गम स्थल से दूर अन्य स्थान पर वैज्ञानिक विधियों द्वारा किया जाता है उसे एक्स–सीटू संरक्षण विधि कहते हैं। भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल द्वारा विभिन्न पशुधन के जननद्रव्य का संरक्षण इस विधि के द्वरा किया गया है। विभिन्न पशुधन की लगभग 44 नस्लों जिनमें गाय, भैंस, भेड़, बकरी, ऊंट, याक व घोड़े शामिल हैं। इनके लगभग 311 प्रजनन योग्य नरों की लगभग 1,29,174 हिमीभूत सीमन स्ट्रा को राष्ट्रीय जीन बैंक में संरक्षित किया गया है। इसके अलावा लगभग 130 विभिन्न नस्लों का डी.एन.ए एवं भैंस की मेमरी ग्लैंड ई. एस. टी. लाइब्रेरी का भी संरक्षण किया गया है तथा विलुप्तप्राय प्रजातियों की सोगेटिक कोशिकाओं के भी संरक्षण के प्रयास इस विधि के द्वरा किये जा रहे हैं।

प्रजनन योग्य उच्च गुणवत्ता के नरों द्वारा वीर्य उत्पादन हेतु उनके संरक्षण एवं उपयोग हेतु दो विधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

1. संगठित प्रक्षेत्रगृह में संरक्षण
2. पशुधन मालिकों के साथ मिलकर संरक्षण

प्रथम विधि में 20–25 उच्च गुणवत्ता के असंबंधित नरों को उनके उद्‌गम स्थल से दूर संगठित प्रक्षेत्रगृहों में रखा जाता है तथा कम से कम 15 नरों के द्वरा उत्पादित 2000 सिमन स्ट्रा प्रति नर गाय, भैंसों तथा अन्य के लिए तथा 1000 सीमन स्तर प्रति नर भेड़ व बकरी के लिए राष्ट्रीय जीन बैंक में संरक्षित किये जाते हैं तथा प्रान्तीय संस्थाओं की सहायता से उत्पादित अन्य सीमन स्ट्रा का उपयोग नस्लों के उत्थान के लिए भी किया जा सकता है।

दूसरी विधि में कृषकों द्वारा आधारित लगभग 100 असंबंधित उच्च गुणवत्ता की मादाओं को पहचान कर पंजीकृत किया जाता है तथा इनसे जनने वाले नरों का उपयोग प्रजनन हेतु किया जाता है।

भारतवर्ष में परम्परागत रूप से समुदाय आधारित स्थानीय नस्लों का संरक्षण उस विशेष समुदाय की आवश्यकता एवं भौगोलिक कारण से होता रहा है। इस समुदाय विशेष नस्ल संरक्षण विधि को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। जैसे कि उचित प्रशिक्षण एवं उनकी अन्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उचित प्रबंधन किया जा सकता है।

भारतवर्ष अनेक अंतर्राष्ट्रीय संस्थओं जैसे कि सी बी डी, डब्ल्यू टी ओ, टी आर आई पी एस का सदस्य है जो कि इस बात पर जोर देता है कि जैविक संसाधनों का प्रलेखन बहुत ही आवश्यक है। जिस कारण से पशुधन विविधता के संरक्षण में सहायता मिलती है। अतः एक राष्ट्रीय प्रलेखन तंत्र जो कि भारतीय पशु आनुवंशिक संसाधन सूचना तंत्र का एक हिस्सा है का विकास भा.कृ.अनु.प–राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो के द्वारा किया गया है। जो कि पशुधन की नस्लों से संबंधित विभिन्न सूचनाओं जैसे कि प्रत्येक नस्ल के गुण, संख्या, चित्र, उपयोग, भौगोलिक वितरण, उत्पादन, प्रजनन तथा वृद्धि के मापदण्ड इत्यादि के आधार पर डाटाबेस तैयार करता है जोकि पशुधन विविधता संरक्षण हेतु बहुत आवश्यक है।

जलवायु परिवर्तन का फसलों तथा पशुओं पर पड़ने वाले प्रभाव

सुनील कुमार, सेन्धिल आर., अनुज कुमार, सत्यवीर सिंह एवं अंकित कुमार

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

जलवायु परिवर्तन क्या है: जलवायु परिवर्तन औसत मौसमी दशाओं के पेटर्न में प्राकृतिक परिवर्तन और बदलाव आने को कहते हैं। जलवायु की दशाओं में यह परिवर्तन प्राकृतिक और मानव के क्रियाकलापों का परिणाम भी हो सकता है। ग्रीन हाउस प्रभाव और वैश्विक तापमान को मुख्य क्रियाओं का परिणाम माना जा रहा है जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद मनुश्यों द्वारा उद्योगों से निसृत कार्बन डाई–ऑक्साईड आदि गैसों के वायुमण्डल में अधिक मात्रा में बढ़ जाने का परिणाम है।

ग्रीन हाउस प्रभाव: पृथ्वी का वातावरण सूर्य की ऊर्जा ग्रहण करता है उसे ग्रीन हाउस इफेक्ट कहते हैं। पृथ्वी के चारों और ग्रीन हाउस गैसों की एक परत होती है। इन गैसों में कार्बन डाई–ऑक्साईड, मीथेन, नाइट्रोजन ऑक्साईड भी शामिल हैं। ये गैसें सूर्य की ऊर्जा का भोशण कर पृथ्वी की सतह को गर्म कर देती हैं। इससे पृथ्वी का जलवायु परिवर्तन हो रहा है। गर्मी की ऋतु लम्बी व सर्दी की ऋतु छोटी होती जा रही है।

वर्तमान विश्व में बढ़ते औद्योगिकरण व बढ़ते वाहनों की संख्या से ग्रीन हाउस गैसों की वातावरण में लगातार बढ़ोत्तरी हुई है। जिससे वैश्विक तापमान में वृद्वि एवं जलवायु परिवर्तन जैसी घटना घटित हुई है। जिसका सबसे ज्यादा असर कृषि पर पड़ा है।

भारत के संदर्भ में यह चेतावनी इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतीय अर्थव्यवस्था की आधारशिला कृषि है। डेनमाक्र की राजधानी को पेहेगन में 2009 में आयोजित सम्मेलन में ग्लोबल कलाईमेट रिस्क इनडेक्स 2010 द्वारा जारी सूची में भारत उन प्रथम 10 देशों में शामिल है जो जलवायु परिवर्तन से सबसे ज्यादा प्रभावित होंगे।

जलवायु परिवर्तन के प्रभाव

1. तापमान में बढ़ोत्तरी: एक अध्ययन के अनुसार सन् 2050 तक शीतकाल का तापमान 4 डिग्री सेलसियस तक बढ़ सकता है। इससे मानसूनी वर्षा में 10–20 प्रतिशत की कमी होने का अनुमान है। यदि तापमान में 1–4 डिग्री सेलसियस तक बढ़ता तो सबसे ज्यादा खाद्यान्न फसलों पर पड़ेगा और उनके उत्पादन में 24–30 प्रतिशत तक कमी आ सकती है। भारत में बढ़ते तापमान से मुख्य खाद्यान्न जैसे चावल के उत्पादन में 2020 तक 6–7 प्रतिशत तथा गेहूँ के उत्पादन में 2020 तक 3–4 प्रतिशत कमी होने का अनुमान है। तापमान वृद्वि से समुद्रों का जलस्तर भी बढ़ जाएगा। जिससे तटीय इलाकों में रहने वाले करोड़ों लोगों की जीविका प्रभावित होगी। तापमान बढ़ने से हिमालय के ग्लेशियर प्रतिवर्ष घटने लगेंगे। जिससे उत्तर भारत में आगामी वर्षों में खेती के लिए पानी का अप्रत्यक्ष प्रभाव कृषि उत्पादन पर पड़ेगा।

2. वातावरण कार्बन डाई–ऑक्साईड में बढ़ोत्तरी: शोधकर्ता इस बात से सहमत हैं कि पिछले कई सालों से वातावरण में कार्बन डाई–ऑक्साईड की बढ़ोत्तरी हो रही है। औद्योगिकरण क्रान्ति से पहले यह मात्रा 28 डिग्री पी पी एम थी जो आज बढ़कर 38 डिग्री पी पी एम तक पहुँच गई है। कार्बन डाई–ऑक्साईड पौधों के प्रकाश संश्लेषण तथा पादप वृद्धि के लिए महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिकों का मानना है कि वातावरण में कार्बन डाई–ऑक्साईड की सान्द्रता बढ़ने से फसलों का वानस्पतिक विकास अधिक होगा। वानस्पतिक विकास अधिक होने से उनके उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा और उनकी उत्पादकता व गुणवत्ता दोनों में कमी आएगी, क्योंकि पौधे वानस्पतिक विकास ही करते रहेंगे और उन पर फल आने व पकने का समय बदल जाऐगा जो उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। इससे फसलों में दाने, भूसे का अनुपात कम हो जाएगा और दाने की बजाए भूसा अधिक प्राप्त होगा। वानस्पतिक वृद्धि अधिक होने व ज्यादा समय तक फसलों में हरापन रहने पर उन पर कीट व बीमारियों का प्रकोप भी बढ़ने की संभावना अधिक रहती है।

3. खरपतवार, कीट व बीमारियों में बढ़ोत्तरी: जलवायु परिवर्तन से कीट व रोगों की मात्रा बढ़ेगी। गर्म जलवायु कीट–पतंगों की प्रजनन क्षमता में वृद्वि में सहायक होती है। कीटों में वृद्धि के साथ ही उनके नियंत्रण के लिए अधिक मात्रा में कीटनाशियों का प्रयोग किया जाएगा जो आर्थिक रूप से किसानों के लिए हानिकारक है तथा इसका प्रतिकूल प्रभाव मनुष्य तथा पशुओं में विभिन्न प्रकार की बीमारियों को जन्म देगा। इस प्रकार जब कार्बन डाई–ऑक्साईड की सांद्रता बढ़ने पर फसलों की वानस्पतिक वृद्वि पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा तो स्वभाविक रूप से खरपतवारों की खरपतवारनाशक रसायनों के विरूद्व प्रतिरोधकता भी बढ़ जाएगी।

4. सिंचाई और वर्षा पर प्रभाव: जलवायु परिवर्तन का सबसे ज्यादा प्रभाव जल संसाधनों पर पड़ेगा। यदि तापमान बढ़ता है और वर्षा की मात्रा में कमी आती है तो सिंचाई की मात्रा बढ़ जाएगी और सिंचाई की क्षमता में कमी आएगी। अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में शुष्क मौसम अधिक लम्बा होगा जिसमें वहाँ पानी की अधिक आवश्यकता पड़ेगी। अधिक तापमान व वर्षा की कमी से भू–जल धीरे–धीरे इतना नीचे चला जाएगा कि उसका प्रयोग आर्थिक दृष्टि से लाभकारी सिद्ध नहीं होगा। हालांकि कुछ वैज्ञानिकों का मानना है कि वातावरण में कार्बन डाई–ऑक्साईड की एक सीमा तक मात्रा बढ़ने पर वातावरण में नमी बढ़ेगी और फसलों को पानी की कम आवश्यकता पड़ेगी और नमी बढ़ने से वाष्पोत्सर्जन में कमी आएगी और पानी की आवश्यकता कम पड़ेगी लेकिन ऐसा होने से फसलों का उत्पादन कम होगा तथा उन पर नमी अधिक रहने से कीट व बीमारियों का प्रकोप भी बढ़ेगा।

5. जलवायु परिवर्तन का पशुधन पर प्रभाव: यदि जलवायु परिवर्तन का असर फसलों पर पड़ रहा है तो यह स्वभाविक है कि यह पशुधन व मनुष्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव डालेगी क्योंकि ये दोनों फसलों से कहीं अधिक जलवायु परिवर्तन के प्रति संवेदनशील हैं।

क) तापमान बढ़ने से पशुधन पर प्रभाव: तापमान बढ़ने से पशुओं में तनाव बढ़ता है, चूंकी मनुष्य और पशु दोनों ही गर्म–खून वाले प्राणी हैं तो दोनों ही बढ़ते हुए तापमान, नमी से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। तापमान बढ़ने से पशुओं की उत्पादकता एवं प्रजनन क्षमता में भारी कमी आएगी। तापमान बढ़ने से तनाव बढ़ता है और तनाव में पशु अपनी भूख का आधा चारा ही खा पाते हैं। भूख में गिरावट आने से पशुओं को प्रारंभिक प्रजनन योग्य होने के लिए जो शारीरिक बढ़वार और एक निश्चित वजन ग्रहण करना होता है, उसमें गिरावट आएगी या उसमें अधिक समय लगेगा जिससे उनकी परिपक्वता उम्र में वृद्धि होगी और पशुधन की प्रथम बार ब्याने की अवधि लम्बी हो जाऐगी। कुछ स्थानों पर रात्रि का तापमान दिन के औसत तापमान से अधिक होता है जिससे पशुओं की मृत्यु दर में बढ़ोत्तरी होगी, विशेष रूप से नवजात बछड़े और बछडियों में।

ख) चारे की गुणवत्ता पर प्रभाव: कार्बन डाई–ऑक्साईड की मात्रा वातावरण में बढ़ने से हरे व सूखे दोनों प्रकार के चारे में पोषक तत्वों की कमी आएगी। इस कमी को पूरा करने के लिए पशुपालकों को अलग से पोषक तत्व खिलाने पड़ेंगे जो पशुपालक की लागत में बढ़ोत्तरी करेगा और आर्थिक रूप से लाभकारी सिद्ध नहीं होगा। इसी स्थिति में कम पानी वाले क्षेत्रों में यदि भूसे का उचित रूप से प्रावधान नहीं किया गया तो चारे की उपलब्धता में भी कमी आ सकती है जो पशुपालन में सबसे बड़ी समस्या बन जाएगी।

ग) बीमारियों में बढ़ोत्तरी: ग्लोबल वार्मिंग से परजीवियों व बीमारियों में बढ़ोत्तरी होगी। यह अनुमान लगाया जाता है कि तापमान बढ़ने तथा अधिक गर्म हवाओं से लूँ लगने का खतरा रहेगा तथा उष्म तनाव व नमी बढ़ने से पशुओं में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाएगी और इन सब से निपटने के लिए अत्यधिक मांगी दवाइयों का प्रयोग करना पड़ेगा जो आर्थिक दृष्टि से पशुपालकों के लिए हानिकारक सिद्ध होगा।

"पर्यावरण में सुधार, तो खुशियाँ अपार"
"प्रगति विकास के सपने अधुरे, पर्यावरण की रक्षा के बिना नहीं होगें पुरे"।

संसाधन पुनरावृतिकरण: अपशिष्ट से मुनाफा

पारुल सुन्धा, निर्मलेंदु बसाक, प्रियंका चंद्रा एवं अरविन्द कुमार राय*
भा.कृ.अनु.प.–केंद्रीय मृदा लवणता अनुसंधान संस्थान, करनाल
** भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान करनाल*

प्रस्तावना

भूमि एक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है जो मनुष्य के जीवनयापन के लिए जरूरी है। संपूर्ण विश्व में बढ़ती हुई जनसंख्या प्रौद्योगिकी एवं शहरीकरण के कारण भोजन की आपूर्ति के लिए मानव द्वारा खाद्य उत्पादन की होड़ में अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए तरह–तरह की रसायनिक खाद, जहरीले कीटनाशकों का उपयोग मृदा में किया जा रहा है अर्थात् प्रकृति के जैविक और अजैविक पदार्थों के बीच आदान–प्रदान के चक्र (इकेलॉजी सिस्टम) के संतुलन को प्रभावित किया है। साथ ही वातावरण प्रदूषित हो रहा है तथा मनुष्य के स्वास्थ्य में गिरावट दर्ज की गयी है। अत्यधिक अजैविक पदार्थों के उपयोग से मिट्टी के भौतिक और रासायनिक गुणों के साथ सूक्ष्मजीव विज्ञानी प्रक्रियाओं पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, परिणामस्वरूप यह कृषि उत्पादन को प्रभावित करता है।

प्राचीन काल में मानव स्वास्थ्य के अनुकूल तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुरूप खेती की जाती थी, जिससे जैविक और अजैविक पदार्थों के बीच आदान–प्रदान का चक्र निरन्तर चलता रहता था, जिसके फलस्वरूप जल, भूमि, वायु तथा वातावरण प्रदूषित नहीं होते थे। भारतवर्ष की संस्कृति के अनुसार कृषि के साथ–साथ गो पालन किया जाता था, अर्थात् कृषि एवं गोपालन संयुक्त रूप से अत्याधिक लाभदायी था, जोकि मृदा तथा वातावरण दोनो के पोषक तत्वों के आदान–प्रदान में सहायक था, परन्तु बदलते परिवेश में गोपालन धीरे–धीरे कम हो गया तथा कृषि में तरह–तरह की रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों का प्रयोग शुरू हो गया है।

संसाधन पुनरावृति की आवश्यकता

भारतवर्ष में ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि है जो कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में 14 प्रतिशत का योगदान देती है। हरित क्रांति के समय से बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुए एवं आय की दृष्टि से उत्पादन बढ़ाने हेतु अधिक मात्रा में रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशक का उपयोग किया गया। गत वर्षों में देखा गया है कि हम खाद्य सामग्री के रूप में जहरीले पदार्थ अपने अंदर ले रहे हैं और जल, भूमि, वायु और वातावरण भी प्रदूषित हो रहा है। इसलिए इस प्रकार की उपरोक्त सभी समस्याओं से निपटने के लिये गत वर्षों से निरन्तर टिकाऊ खेती के सिद्धान्त पर खेती करने की सिफारिश की गई, जिसे विभिन्न कृषि विभागों ने भी बढ़ावा दिया जिसे हम जैविक खेती के नाम से जानते हैं। भारत सरकार भी इसे अपनाने के लिए प्रचार–प्रसार कर रही है। खेत का अवशेष खेत में ही रखने पर सरकार निरंतर प्रयास कर रही है, इसके अन्य विकल्प हैं प्रवेशी खाद, हरी खाद, रसोई अपशिष्ट, वर्मीकंपोस्ट, कृषि औद्योगिक अपशिष्ट, समुद्री शैवाल खाद तथा नगरपालिका ठोस अपशिष्ट आदि।

वर्तमान भारतीय परिदृश्य

आई पी सी सी की पांचवी मूल्यांकन रिपोर्ट 2014 के अनुसार पाया गया है कि 2000–2010 में ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा है और इसका 40 प्रतिशत बढ़ावा चीन एवं भारत से हुआ है। भारत में 1970–2010 तक कृषि से ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन 70 प्रतिशत बढ़ा है। बढ़ने के कारणों में पशुधन, धान के खेत, अनुचित पशुओं के गोबर प्रबंधन, अवशेष जलाना, यूरिया का अधिक इस्तेमाल आदि

शामिल है। N_2O का 77 प्रतिशत उत्सर्जन अकार्बोनिक खाद के इस्तेमाल से होता है। भारत में प्रतिवर्ष 84 मिलियन टन फसल अवशेष जलाया जाता है, जिसमें मुख्य रूप से पंजाब और हरियाणा राज्य शामिल हैं।

चित्र 1: जैविक खेती के लिए उपलब्ध संसाधन

वर्तमान में देश में करीब 62 मिलियन टन नगरपालिका ठोस अपशिष्ट प्रतिवर्ष उत्पन्न होता है। इसलिए, आज यह जरूरी है कि हम फसल अवशेष एवं नगरपालिका ठोस अपशिष्ट को मिट्टी के सुधार के लिए उपलब्ध संभावनाओं पर अनुसंधान करें जिससे अपशिष्ट के प्रबंधन में भी सहायता मिलेगी।

भारतीय कृषि से ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन (मिट्रिक टन)

स्रोत	मिथेन	नाइट्रोजन ऑक्साईड	कार्बन डाई ऑक्साईड के समतुल्य
चावल की खेती	3.4	–	85.0
फसल अवशेषों को जलाने से	0.3	0.01	9.6
मृदा से	–	0.26	77.8
कुल योग	3.7	0.27	172.4

संसाधन पुनरावृतिकरण के लाभ

संसाधन पुनरावृति विधि से की गयी खेती रासायनिक खेती की विधि की तुलना में बराबर या अधिक उत्पादन देती है अर्थात् जैविक खेती मृदा की उर्वरता एवं कृषकों की उत्पादकता बढ़ाने में पूर्णतः सहायक है। वर्षा आधारित क्षेत्रों में जैविक खेती की विधि और भी अधिक लाभदायक है। जैविक विधि द्वारा खेती करने से

उत्पादन की लागत तो कम होती ही है इसके साथ ही कृषकों को अधिक आय प्राप्त होती है तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार की स्पर्धा में जैविक उत्पाद अधिक खरे उतरते हैं। जिसके फलस्वरूप सामान्य उत्पादन की अपेक्षा में लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

कृषकों की दृष्टि से लाभ

- भूमि की उपजाऊ क्षमता में वृद्धि होती है।
- सिंचाई अंतराल में वृद्धि होती है।
- रासायनिक खादों पर निर्भरता कम होने से लागत में कमी आती है।
- फसलों की उत्पादकता में वृद्धि होती है।
- फसलों में पोषक तत्व बढ़ जाते है।

मिट्टी की दृष्टि से

- जैविक खाद के उपयोग करने से भूमि की गुणवत्ता में सुधार आता है।
- मृदा संरचना में सुधार और वनस्पतियों और जीव विकास में सुधार।
- भूमि की जल धारण क्षमता बढ़ती हैं।
- भूमि से पानी का वाष्पीकरण कम होता है।

पर्यावरण की दृष्टि से रणनीति

- भूमि के जल स्तर में वृद्धि होती है।
- हानिकारक गैस के उत्सर्जन में कमी आती है।
- मिट्टी, खाद्य पदार्थ और जमीन में पानी के माध्यम से होने वाले प्रदूषण मे कमी आती है।
- कचरे के उचित प्रबंधन से बिमारियों में कमी आती है।
- फसल उत्पादन की लागत में कमी एवं आय में वृद्धि होती है।

चित्र 2: सतत कृषि के लिए विकसित

उपसंहार

आधुनिक समय में निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या, पर्यावरण प्रदूषण, भूमि की उर्वरा शक्ति का संरक्षण एवं मानव स्वास्थ्य के लिए उपलब्ध संसाधनों का उचित उपयोग अति आवश्यक एवं अत्यन्त लाभदायक है। अपशिष्ट प्रबंधन पर राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए संभव प्रयास किये जा रहे हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद भी इसे एक अभियान के रूप में चला रहा है। राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद ने भी इस वर्ष का विषय अपशिष्ट को घटाना, पुनरावृत्ति एवं पुनः उपयोग से लाभ रखा है। मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधन प्रदूषित न हो, शुद्ध वातावरण रहे एवं पौष्टिक आहार मिलता रहे, इसके लिये हमें जैविक खेती की कृषि पद्धतियों को अपनाना होगा जोकि हमारे नैसर्गिक संसाधनों एवं मानवीय पर्यावरण को प्रदूषित किये बगैर समस्त जनमानस को खाद्य सामग्री उपलब्ध करा सके तथा हम स्थायी कृषि की तरफ अग्रसर हो सके।

कृषि अवशेषों का प्रबंधन

प्रिया शर्मा, दर्शना महिड्डा एवं अकांक्षा टमटा

भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय डेरी अनुसंधान संस्थान, करनाल

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ भूमि का एक विशाल भाग खेती के लिए उपयोग किया जाता है। देश में विभिन्न कृषि पारिस्थितिक क्षेत्रों में अलग–अलग प्रकार की फसलें उगाई जाती है। एक अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष 500–550 मिलियन टन कृषि अवशेषों का उत्पादन होता है। यह फसल अवशेष पशु को घरेलू तथा औद्योगिक ईंधन के उपयोग के लिए किया जाता है।

भारत में किसानों के लिए गेहूँ, चावल और गन्ने जैसी फसलों के उत्पादन के बाद बचे अवशेषों को जमाकर जलाने का एक परम्परागत तरीका बन गया है। जिसका पर्यावरण पर बुरा प्रभाव होता है। कृषि सत्र के बाद बचे कचरे को जलाने से ग्रीन हाउस गैसें उत्पादित होती है। फसल जलाने से ग्रीन हाउस गैस जिसमें एक चौथाई मात्रा में मिथेन (CH_4) तथा तीन चौथाई मात्रा में कार्बन डाई–ऑक्साईड उत्सर्जित होती है। भारत में केवल गेहूँ तथा चावल के तिनकों को जलाने से ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन में 42 प्रतिशत योगदान करता है। कृषि अवशेष जलाना कृषि अवशेष प्रबंधन का सबसे आसान और सस्ता विकल्प है।

किसान क्यों कृषि अवशेष जलाते है?

मशीनरीकरण में वृद्धि, विशेष रूप से सयुंक्त अनाज काटने वाले मशीन का उपयेाग तथा खाद्य बनाने की कमी जैसे कारणों से किसान फसलों के बचे अवशेषों को जलाते हैं। कई जानबुझकर जलाने के कारण जैसे कि खेत के पुराने फसल से बचे कुड़े की तथा घास चारे को हटाने तथा प्रजनन क्षमता संवर्धन, कीट प्रबंधन और चारागाह प्रबंधन शामिल है। यह थोड़े समय के लिए कुछ तत्वों की उपलब्धता बढ़ाता है तथा मिट्टी की अम्लता को कम करता है। फोटो पीरियड असंवेदनशील अवधि की किस्मों की उपलब्धता, जिसमें किसान एक जमीन पर एक से ज्यादा बार फसल उगाने की क्रिया को भी बढ़ाया है। जैसे कि पंजाब के किसान जहाँ पहले चावल या गेहूँ की उपज लेते थे, उसी जमीन पर वो एक साल में चावल तथा गेहूँ दोनों उगाते हैं। इस तरह की फसल को समय पर बोने के लिए पुरानी फसल के कचरे को हटाने में ज्यादा समय बर्बाद नहीं करना चाहता है। दूसरी फसल की देर बुआई से उसकी उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है और इसलिए वह फसल के कुड़े को जला देता है जिसका पर्यावरण पर बुरा प्रभाव असर होता है।

भारत में कृषि अवशेष जलाने की स्थितिः– भारत के विभिन्न राज्यों में फसलों के अवशेषों की उगाई में अंतर हैं, जो राज्यों में उगाई गई फसलों, उनकी फसल तीव्रता तथा उत्पादकता पर आधारित है। भारत में कुल सुखी फसल अवशेष की मात्रा 620.43 मिलियन टन है। विभिन्न फसलों से उत्पन्न होने वाली फसल अवशेषों को मुख्य चार श्रेणियों अर्थात् अनाज (चावल, गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, रागी और छोटे–मोटे अनाज) तथा तिलहन (मुंगफली और सरसों) फाइबर (जूट, मेस्ता और कपास) तथा गन्ने में बांटा गया है।

ऐरोसोल और वायु गुणवत्ता रिसर्च (2014) के अनुसार अनाज फसलों से सबसे ज्यादा फसल अवशेष उत्पादन पंजाब (46.6 मिलियन टन), उत्तर प्रदेश (72 मिलियन टन), पश्चिम बंगाल (37.3 मिलियन टन), आंध्र प्रदेश (33 मिलियन टन) तथा हरियाणा (24.7 मिलियन टन) क्रमशः हैं।

गन्ने की फसलों के उत्पादन सबसे ज्यादा उत्तर प्रदेश 142.2 मिलियन टन जबकि फाइबर के अवशेष उत्पादन गुजरात (28.6 मिलियन टन) में होता है।

पंजाब (13.30 मिलियन टन/40) तथा उत्तर प्रदेश (22.87 मिलियन टन/40) में फसल अवशेष जलान सबसे ज्यादा पाया जाता है। जिसका सबसे बड़ा कारण चावल, गेहूँ की फसल पद्धति है।

कृषि अवशेष जलाने का मृदा स्वास्थ्य पर प्रभावः– खेतों में फसल अवशेषों के जलाने से मिट्टी में मौजूद पोषक तत्वों की मात्रा में कमी आती है। जिससे मिट्टी की उर्वरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यह मृदा संरचना को हानि पहुँचाता है। जिससे जल निकासी में बाधा उत्पन्न होती है उसके उपरांत यह जल और पोषक तत्वों की अस्तांरण को कम कुशल बनाता है। फसल अवशेष जलाने से मिट्टी, कार्बन को हवा में कार्बन डाई–ऑक्साईड के रूप में खो देता है जिससे नाइट्रोजन संतुलन भी तेजी से बदलता है और नाइट्रोजन नाइट्रेट में बदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप 0.824 मिलियन टन एन पी के का नुकसान होता है। अनाज फसलों के लिए लगभग 25 प्रतिशत नाइट्रोजन और फॉस्फोरस तथा 50 प्रतिशत सल्फर और 75 प्रतिशत पोटाशियम अनाज फसल अवशेषों में रह जाता है जो उसे अच्छे पोषक तत्वों का स्रोत बना रही है।

फसल अवशेष जलाने का हवा की गुणवत्ता पर प्रभावः– कृषि अवशेषों के जलाने से कई रासायनिक और विकिरण गैस तथा एरोसोल्स तथा अन्य हाईड्रोकार्बन निकलती हैं। जिससे वायुमंडल सरंचना पर प्रभाव पड़ता है। एक टन भूसा जलाने से तीन किलोवाट कण, 60 किलोवाट कार्बन डाई–ऑक्साईड 1460 किलो कार्बन डाई–ऑक्साईड 199 किलो राख तथा 2 किलो सल्फर डाई–ऑक्साईड निकलता है। इससे हो रहे वायुमंडल संरचना में बदलाव का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विकियकरण संतुलन पर प्रभाव हो सकता है। कई प्रकाश हाइड्रोकार्बन के अलावा जैसे पॉली साईकिल एरोमेटिक हाइड्रोकार्बन (पी ए एच एस) तथा पॉलिक क्लोरीमेट बाई फिनाईल एस ओ एक्स, एन ओ एक्स सहित कई वाष्पशील तथा अर्धवाष्पशील कार्बनिक यौगिकों का उत्सर्जन होता है। वायु प्रदूषण में विशाक्तता गुण होते हैं और संभावित कार्सिनोजिक होते हैं। यह कई बिमारियों जैसे टीवी, अस्थमा तथा फेफड़ों संबंधित रोगों के लिए चिंता का प्रमुख कारण है। इसके अलावा फसल अवशेष जलाने से निकल रहे कार्बन डाई–ऑक्साईड से वातावरण में ओजोन की परत पतली होती है। जो ग्रीन हाउस के प्रभाव को बढ़ाता है।

अवशेष जलाने से मनुष्य के अलावा पशुओं के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जिससे उनकी दुग्ध उत्पादन में बहुत कमी आती है। इससे हो रहे वायु प्रदूषण से जानवरों के रक्त में कार्बन डाई–ऑक्साईड की मात्रा बढ़ जाती है। जिससे उनका सामान्य हिमोग्लोबिन घातक होमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप जानवरों की मौत हो जाती है।

कृषि कचरे का वैकल्पिक उपयोगों के लिए प्रबंधनः– फसल अवशेषों के जलाने से बढ़ रही समस्याओं को ध्यान में रखते हुए फसल अवशेषों के वैकल्पिक प्रबंधन के लिए पहल की जा रही है। विभिन्न विभाग तथा संस्थान फसल अवशेषों के वैकल्पिक उपयोग को बढ़ावा दे रहे हैं। कई विकल्प है जिससे फसल अवशेषों का प्रबंधन किया जा सकता है।

कृषि अवशेषों का पशुचारे के रूप में उपयोगः– भारत में पशुओं को खिलाने के लिए चारे की कमी पाई जाती है। कई क्षेत्र जहाँ पानी की कमी के कारण साल में एक ही बार फसल ली जाती है, वहाँ चारे की कमी ज्यादा देखी जाती है। ज्यादा कृषि अवशेष उत्पादन क्षेत्र से कम उत्पादन क्षेत्र में भूसा भेजा जाना चाहिए ताकि उन क्षेत्रों के पशुओं का उत्पादन बढ़ा सके।

खाद्य के लिए कृषि अवशेषों का उपयोगः– कृषि अवशेषों को पशु बिस्तर बनाकर या गोबर गड्ढे में ढेर करके खाद्य में परिवर्तित किया जा सकता है, खेत पर भी कई वैकल्पिक तरीकों से खाद बनाया जा सकता है। एक हैक्टर में उगाये चावल के अवशेषों से फार्मयार्ड खाद जितना पोषक तत्व वाला 3.2 टन खाद बना सकते हैं।

धान की पुआल का मिट्टी में निगमनः– पुआल के मिट्टी में निगमन से मिट्टी की भौतिक तथा रसायनिक गुणों जैसे पी.एच, जैविक कार्बन, जल धारण क्षमता तथा मिट्टी के थोक घनत्व पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

फसल के अवशेषों से ऊर्जाः– बायोमास को बड़ी कुशलता से ऊर्जा स्रोत के रूप में उपयोग किया जा सकता है और दुनिया भर में अपने पर्यावरण के फायदे की वजह से रूचि उत्पन्न करने का विकल्प बन गया है। यह वातावरण में की कार्बन डाई–ऑक्साईड मात्रा को कम करने का एक तत्काल समाधान प्रदान करता है। अक्षय ऊर्जा संसाधन जैसे सौर और पवन ऊर्जा के साथ बायोमास एक सगहनीय सस्ता, ऊर्जा कुशल और पर्यावरण के अनुकूल संसाधन है।

मशरूम की खेती के लिए फसल के अवशेषों का इस्तेमालः– चावल के पुआल को जैसी मशरूम किस्मों की खेती करने में उपयोग किया जा सकता है, एक किलो चावल के पुआल से इन किस्मों का क्रमशः 300 ग्राम, 110–120 ग्राम और 600 ग्राम उत्पादन होता है।

फसल अवशेषों से बायोगैस का उत्पादनः– बायोमास को बायोगैस (कार्बन डाई–ऑक्साईड तथा मिथेन का मिश्रण) में परिवर्तित किया जा सकता है, जिसे ईंधन के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। बायोगैस के उत्पादन से बचे छोल का खाद्य के तौर पर इस्तेमाल किया सकता है। यह फसल अवशेषों से उच्च गुणवत्ता वाले ईंधन उत्पादन तथा मिट्टी के लिए खाद पैदा करने का एक गैर विनाशकारी प्रकिया है।

बिचौर उत्पादनः– बिचौर एक उच्च कार्बन वाली सामग्री है जिसे बायोमास पर धीमी पाइरोलाइसिस प्रक्रिया (ऑक्सीजन के अभाव में गरम करना) से उत्पन्न किया जाता है, उसका कुशल ऊर्जा स्रोत, मिट्टी में मिलाकर, खाद के तौर पर इस्तेमाल किया जा सकता है और यह हानिकारक गैस के उत्सर्जन को स्थिर और कम करने की क्षमता रखता है। बिचौर भरपूर ऊर्जा वाले गैसों को उत्पन्न करता है जिसे तरल ईंधन या सीधे बिजली उत्पन्न करने के उपयोग में लाया जाता है। बिचौर मिट्टी की उर्वरता, जल धारण तथा पौधों की जड़ों में खनिज वितरण के दर को बढ़ाता है।

विविधीकरणः– पंजाब और उत्तर प्रदेश जहाँ सबसे ज्यादा धान गेहूँ फसल पद्धति अपनाई है, जिससे पर्यावरण पर हो रहे हानिकारक प्रभावों को देख, पंजाब सरकार धान, विविधीकरण को प्रोत्साहित कर रही है। पंजाब में धान, गेहूँ को मोनोकल्चर फसल–पद्धति के विकल्प के तौर पर अन्य लाभकारी और कम पानी ग्रहण वाली फसलें जैसे मक्का, दालें, सुरजमुखी तथा सब्जियों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

कृषि विश्वविद्यालय, लुधियाना–खड़ी फसल के बीच, हैप्पी सीडर मशीन से पौधों का बोनाः– यह तकनीक पंजाब द्वारा विकसित की गई है, जिससे गेहूँ की धान के फसल अवशेषों में ही फसल को बोने के लिए प्रयोग किया जा रहा है।

शून्य जुताई का तकनीकों संर्वधनः– शून्य जुताई प्रणाली जिसमें फसल की बुआई बिना जुताई या न्यूनतम जुताई की जाती है। उत्तरी भारत में गेहूँ फसल पद्धति अपनाए जाने वाले क्षेत्रों में शून्य जुताई तकनीक को बढ़ावा दिया जा रहा है।

फसल अवशेषों को जलाने से होने वाले दुष्परिणामों से किसानों को अवगत करना कृषि विभाग का दायित्व है। इस सम्बंध में गहन जागरूकता अभियान चलाया जाना चाहिए साथ ही हरियाणा सरकार की तरह इस समस्या से शीघ्र उबरा जा सकता है।

बदलते जलवायु परिवेश में गन्ने में अन्तः फसलीकरण क्यों व कैसे?

अनिल खिप्पल, संजीव कुमारी, अमित कुमार शर्मा एवं सत्यवीर सिंह

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

बदलती जलवायु, घटती जोत, कम होती भूमि की उर्वरा शक्ति एवं बढ़ती लागत किसानों को झकझोर कर रही है। ऐसे में किसान गन्ना फसल पर बिना किसी दुश्प्रभाव के अन्तः फसल उगाकर अतिरिक्त आमदनी ले सकते हैं। वैसे तो गन्ने के साथ अन्तः फसलों का प्रचलन रहा है, परन्तु आज के युग में प्रति एकड़ अधिक आमदनी के लिए गन्ने की फसल में वैज्ञानिक ढंग से अन्तः फसलें लगाना आवश्यक हो गया है। आमतौर पर अन्तः फसल की बिजाई समतल विधि द्वारा बिना लाईन के छींटा विधि से की जाती है। जिससे अन्तः फसलों व गन्ने में अन्तः क्रियाएँ करने में न केवल मुश्किल आती है बल्कि अन्तः फसलें गन्ना फसल पर दुष्प्रभाव डालती है और अन्तः फसल की कटाई में भी परेशानी आती है। अन्तः फसलों की बिजाई के लिए बैड प्लांटिंग विधि काफी कारगर सिद्ध हुई है। बहुत सारी सब्जियाँ आमतौर पर मेढ़ पर उगाई जाती है, जबकि खाद्यान्न एवं तिलहनी फसलें अभी भी समतल विधि द्वारा उगाई जाती है। बैड प्लांटर की खोज एवं उपलब्धता ने इन फसलों की मेंड़ों पर खेती करना आसान हो गया कर दिया है जिससे इनकी पैदावार में बढ़ोत्तरी होती है। इस मशीन द्वारा 75–90 से.मी. की दूरी पर खूड़ में गन्ना और बैड पर मुख्यताः तोरिया, सरसों, गेहूँ, मसरी, उड़द, मूंग, चना, मक्का व ज्वार आदि की बिजाई की जा सकती है।

गन्ने में अन्तः फसलीकरण के लाभ

- अन्तः फसलीकरण से किसान के परिवार व कृषि मजदूरों को अतिरिक्त रोजगार मिलता है।
- अन्तः फसलों को दी गई सिंचाई गन्ने की फसल के लिए भी पर्याप्त रहती है, इससे पानी की बचत होती है।
- दलहनी फसलें गन्ने के साथ लेने से मुख्य फसल में 10–25 प्रतिशत कम नाइट्रोजन डालने की जरूरत पड़ती है।
- खाली जगह में अन्तः फसल लेने से खरपतवार की समस्या कम हो जाती है।
- अन्तः फसलीकरण से दूसरे खाद्यान्नों जैसे दलहन, तिलहन, गेहूँ व सब्जियों आदि की जरूरत पूरी कर सकते हैं।
- लहसून, धनिया व प्याज जैसी अन्तः फसलें गन्ने में चोटी भेदक व कंसुआ के प्रकोप को कम करती है।
- अन्तः फसलों के अवशेषों को भूमि में मिलाने से भूमि की भौतिक संरचना में सुधार आता है।

विधिः

लेजर लैंड लेवलर से खेत को अच्छी तरह समतल करें। खेत को अच्छी तरह तैयार करके अन्तः फसलों के लिए सिफारिश की गई नाईट्रोजन व पोटाश खाद की मात्रा का छिड़काव करें। इसके बाद बैड प्लांटर से बैड पर अन्तः फसलों की बिजाई व फॉस्फोरस खाद की मात्रा डालें। गन्ने की फसल के लिए 20 कि.ग्रा. नाईट्रोजन, 20 कि.ग्रा. फॉस्फोरस एवं 20 कि.ग्रा. पोटाश प्रति एकड़ खूड़ों में डालें। 90 से.मी की दूरी पर खूड़ो में दो आँखों वाली 8 पोरियाँ प्रति मीटर रखें। बिजाई के बाद पोरियों को हल्की मिट्टी से ढ़कें। पहली सिंचाई बिजाई के 2–3 दिन बाद करें। दूसरी सिंचाई 10–12 दिन बाद अवश्य करें। शुरूआत में सिंचाई अन्तः फसलों की जरूरत के अनुसार करें। अन्तः फसल काटने के बाद सिंचाई गन्ने की फसल के अनुसार करें।

शरद् कालीन गन्ने में अन्तः फसलीकरण

गन्ना + गेहूँ

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह का आखिरी सप्ताह
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, गेहूँ–30 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर गेहूँ की लाईनेंः– तीन

गन्ना + चना

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह का दूसरा पखवाड़ा
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, चना–15–20 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर चना की लाईनेंः– दो

गन्ना + राया

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह का पहला पखवाड़ा
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, राया–1.25 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर राया की लाईनेंः– दो

गन्ना + मसरी

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह का दूसरा पखवाड़ा
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, मसरी–7.8 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर मसरी की लाईनेंः– दो

गन्ना + मटर

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, मटर–23–25 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर मटर की लाईनेंः– दो

गन्ना + लहसुन

बिजाई का समयः– सितम्बर के आखिरी सप्ताह से अक्तूबर माह तक
बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, लहसून–100–125 कि.ग्रा./एकड़
खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)
बैड पर लहसून की लाईनेंः– चार

गन्ना + प्याज

बिजाई का समयः– गन्ना–अक्तूबर माह का दूसरा पखवाड़ा, प्याज–15 दिसम्बर से 15 जनवरी

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, प्याज–3 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर प्याज की लाईनेंः– चार

गन्ना + आलू

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह का पहला पखवाड़ा

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, आलू–12 क्विंटल/एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर आलू की लाईनेंः– दो

गन्ना + मेथी

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, मेथी–8–10 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर मेथी की लाईनेंः– तीन

गन्ना + धनिया

बिजाई का समयः– अक्तूबर माह

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, धनिया–4.5 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें.मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर धनिये की लाईनेंः– तीन

गन्ना + मूंग

बिजाई का समयः– 20 फरवरी से 31 मार्च तक

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, मूंग–6 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें. मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर मूंग की लाईनेंः दो

गन्ना + उड़द

बिजाई का समयः– 20 फरवरी से 31 मार्च तक

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, उड़द–6 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें. मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर उड़द की लाईनेंः दो

गन्ना + खीरा

बिजाई का समयः– 20 फरवरी से 31 मार्च तक

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, खीरा–1 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें. मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर खीरे की लाईनें: एक (पौधे से पौधे की दूरी 1.5 मी. रखे)

गन्ना + खरबूजा

बिजाई का समयः– 20 फरवरी से 31 मार्च तक

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, खरबूजा–1 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें. मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर खरबूजे की लाईनें: एक (पौधे से पौधे की दूरी 1.5 मी. रखे)

गन्ना + ककड़ी

बिजाई का समयः– 20 फरवरी से 31 मार्च तक

बीज की मात्राः– गन्ना–35 से 40 क्विंटल/एकड़, ककड़ी–1 कि.ग्रा./एकड़

खूड़ से खूड़ की दूरीः– 90 सें. मी. (55 सें.मी. बेड व 35 सें.मी. खूड़)

बैड पर ककड़ी की लाईनें: एक (पौधे से पौधे की दूरी 1.5 मी. रखे)

सावधानियाँ

1. इस विधि से मिलवा फसलें उगाने के लिए खेत अच्छी तरह समतल व तैयार होना चाहिए ताकि पानी लगाने मे कोई परेशानी न हो और पानी हमेशा आधे खूड़ तक ही सीमित रहे।
2. मशीन से बिजाई करते समय एक व्यक्ति मशीन के पीछे–पीछे चले और ध्यान रखे कि खाद व बीज ठीक प्रकार से डल रहें है।
3. इस मशीन को चलाने व सम्भालने के लिए उचित प्रशिक्षण लेना आवश्यक है ताकि मशीन में आने वाली किसी भी प्रकार की रूकावट का साथ ही समाधान किया जा सके।
4. अन्तः फसल की बिजाई सिफारिश की गई गहराई तक ही सुनिश्चित करें, नहीं तो अन्तः फसल का जमाव प्रभावित हो सकता है।

भारतीय पशुधन संसाधन के प्रबंधन एवं आनुवंशिक उन्नति के वर्तमान राष्ट्रीय कार्यक्रम : एक अवलोकन

अविनाश सिंह, सोनिका अहलावत, रेखा शर्मा एवं मधुसूदन टांटिया

भा.कृ.अनु.प.–राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल

भारतीय कृषि एवं पशुधन उत्पादन एक दूसरे से मूलभूत रूप से जुड़े हुए हैं तथा भारतीय ग्रामीण आबादी के जीवन–यापन के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वर्ष 2012 की पशु गणना के अनुसार भारत वर्ष की कुल पशु संख्या लगभग 512.06 मिलियन है तथा कुक्कुट संख्या लगभग 729.21 मिलियन है। कुल पशुधन में विभिन्न प्रजातियों का योगदान क्रमशः गाये 37.28 प्रतिशत, भैंस 21.23 प्रतिशत, बकरी 26.40 प्रतिशत, भेड़ 12.71 प्रतिशत, शूकर 2.01 प्रतिशत, एव अन्य 0.37 प्रतिशत हैं। इस हिसाब से भारतीय पशुधन में लगभग 190.90 मिलियन गायें, 108.70 मिलियन भैंसे, 135.07 मिलियन बकरियाँ, 65.07 मिलियन भेड़ें, 10.29 मिलियन शूकर तथा अन्य प्रजातियाँ जैसे कि घोड़े 6.25 लाख, ऊँट 4 लाख, खच्चर 1.96 लाख, गधे 3.19 लाख, याक 0.77 लाख, मिथुन 2.98 लाख एवं विभिन्न प्रकार की कुक्कुट प्रजातियों में मुर्गी 692.95 मिलियन, बत्तख 23.54 मिलियन, टर्की प्रजाति एवं अन्य 13.03 मिलियन हैं। भारतवर्ष का भैंसों की पशुसंख्या में विश्व में प्रथम स्थान है तथा गायों एवं बकरियों की पशुसंख्या में दूसरा, भेड़ों में तीसरा, बत्तख में चौथा, मुर्गी में पांचवा एवं ऊँटों की पशुसंख्या में छठवां स्थान है। भारतीय पशुधन व्यवसाय भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। पशुधन व्यवसाय के द्वारा 137.7 मिलियन मिट्रिक टन मांस उत्पाद एवं 47.9 मिलियन कि.ग्रा. ऊन का उत्पादन वर्ष 2013–14 के दौरान किया गया। एक आंकलन के अनुसार भारतवर्ष में लगभग 87.7 प्रतिशत कृषक लघु एवं सीमान्त कृषक की श्रेणी में आते हैं। अतः पशुधन व्यवसाय इन कृषकों के लिए रोजगार एवं आजीविका के मुख्य साधन के रूप में कार्य करता है।

भारतवर्ष विश्व की एक विशाल पशुधन संसाधन से परिपूर्ण देश है, जो कि भारतवर्ष के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों एवं जलवायु में पायी जाती हैं तथा ये विभिन्न प्रकार की नस्लें भिन्न–भिन्न प्रकार की जलवायु जैसे की शुष्क आर्द्र गर्म एवं शीत जलवायु के लिए बहुत अनुकूल हैं। इसके अलावा इन नस्लों द्वारा उत्पादित पदार्थों का अलग–अलग आर्थिक महत्त्व है। अतः इन विभिन्न नस्लों के संरक्षण हेतु जरुरी कदम उठाया जाना अति आवश्यक है।

भारतवर्ष में वर्तमान समय में विभिन्न प्रकार के पशुधन की 160 पंजीकृत नस्लें हैं जिनका विवरण निम्नलिखित तालिका में दिया जा रहा है।

प्रजाति	नस्लों की संख्या
गाय	40
भैंस	13
बकरी	26
भेड़	42
ऊँट	09
सूकर	06
घोड़े	06

गधा	01
कुक्कुट	17

भारत सरकार द्वारा पशुधन की विभिन्न नस्लों के आनुवंशिक उत्थान, सरंक्षण एवं प्रबंधन के लिए वर्तमान समय में विभिन्न कार्यक्रमों का संचालन शुरू किया है, जिसमें कि भारतवर्ष की पशुधन संसाधन विविधता का उचित प्रकार से प्रबंधन एवं संरक्षण किया जा सके। इन विभिन्न कार्यक्रमों एवं योजनाओं का विविरण निम्नलिखित प्रकार से है।

राष्ट्रीय गोकुल मिशन

भारतवर्ष की देशज गाय की नस्लें अपनी गर्मी सहन करने की क्षमता एवं प्रतिकूल जलवायु परिस्थिति में भी दुग्ध उत्पादन करने के लिए जानी जाती है। एक अध्ययन के अनुसार जलवायु परिवर्तन का विपरीत प्रभाव दुग्ध उत्पादन में पड़ रहा है तथा एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2020 तक ऊष्मीय तनाव के कारण गाय एवं भैंस के दुग्ध उत्पादन में लगभग 3.2 मिलियन टन की कमी आंकी गयी है। जिसका वर्तमान मूल्य लगभग 5000 करोड़ रुपए है। ऊष्मीय तनाव के कारण दुग्ध उत्पादन एवं प्रजनन क्षमता में प्रतिकूल प्रभाव सर्वाधिक संकर गायों एवं उसके बाद भैंसों में देखा गया है। देशज गाय की नस्लें जलवायु परिवर्तन से सबसे कम प्रभावित होती हैं क्योंकि ये संकर गायों की तुलना में अधिक सुदृढ एवं अनुकूल हैं।

देशज नस्लों की विशिष्ट गर्मी सहन करने की क्षमता के गुण के साथ ही परजीवियों एवं रोगों के प्रति उच्च प्रतिरोधक क्षमता के गुण के कारण ही ये विपरीत पर्यावरण परिस्थितियों में भी गुजारा कर लेती हैं। इनके इसी गुण के कारण गाय की देशज नस्लों का निर्यात विभिन्न देशों जैसे कि संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील एवं आस्ट्रेलिया ने भी किया ताकि वे ऊष्मा एवं रोग प्रतिरोधी नस्लें विकसित कर सकें।

अधिकांश भारतीय गाय की नस्लें ए2 एलिल युक्त बिटा केसीन युक्त दुग्ध उत्पादित करती हैं। जबकि विदेशी नस्लें मुख्यतः ए1 एलिल युक्त बीटा केसिन युक्त दुग्ध उत्पादित करती हैं जोकि विभिन्न प्रकार की व्याधियों जैसे कि, मधुमेह, हृदय रोग इत्यादि उत्पन्न कर सकता है।

मिशन के उद्देश्य–

इस कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य वैज्ञानिक विधियों का उपयोग कर भारतवर्ष की देशज एवं गैर पंजीकृत नस्लों का संरक्षण, नस्ल सुधर एवं प्रबंधन करना है। जोकि उनके गृह–प्रक्षेत्र में ही कृषकों की सहायता से किया जाना है। इस कार्यक्रम के बिन्दुवार उद्देश्य निम्नलिखित हैंः–

1. भारतीय देशज नस्लों का नस्ल सुधर करना जिससे की उनके आनुवंशिक संरचना को और उत्कृष्ट बनाकर उनकी संख्या बढ़ाकर उसे स्थापित किया जाए।
2. भारतीय देशज नस्लों के दुग्ध उत्पादन को बढ़ाया जाए।
3. भारतीय वर्णनातीत (नान–डिस्क्रिप्ट) गायों का उन्नयन सर्वश्रेष्ठ देशज नस्लों जैसे कि गिर, साहिवाल, राठी, धिओनि, थारपारकर एवं लाल सिन्धी के माध्यम से किया जा सके।
4. उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता के देशज नस्ल के नरों का वितरण प्राकृतिक सेवा के लिए किया जाए।

राष्ट्रीय गोकुल मिशन योजना के घटक

1. गोकुल ग्रामों की स्थापना– ग्राम स्तर पर समाकलिन देशज गायों के केंद्र की स्थापना की जाएगी, और उन्हें गोकुल ग्राम की संज्ञा दी जाएगी, इन केन्द्रों की स्थापना पशु के उदगम स्थल एवं महानगरों में शहरी

पशुओं के लिए की जाएगी। गोकुल ग्राम केन्द्रों की सहायता से देशी नस्लों का विकास किया जाएगा एवं उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता के पशुओं को कृषक को उपलब्ध कराने में सहायता मिलेगी। प्रत्येक केंद्र की क्षमता 1000 पशुओं की होगी जिसमें दुग्ध एवं अदुग्ध पशुओं का अनुपात रू 60 रू 40 होगा। इन केन्द्रों कों उच्च गुणवत्ता के दुग्ध उत्पादों एवं पशुओं की बिक्री से आय स्त्रोत के कारण आत्मनिर्भर बनाया जाएगा।

2. बुल मदर प्रक्षेत्र का सुदृढ़ीकारण– उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता वाले देशज नस्लों के नरों की उपलब्धता बढ़ाने हेतु इन प्रक्षेत्रों को ओर सुदृढ़ किया जायेगा। इस घटक के अन्तर्गत 50 बुल मदर प्रक्षेत्रों की पहचान की जाएगी जोकि नस्लों के उद्गम प्रक्षेत्रों में स्थित होंगे एवं इन्हें अच्छे प्रबंधन, आधारभूत सुविधाओं से सुसज्जित करने के साथ ही आधुनिक बनाया जायेगा, जिससे की प्राकृतिक सेवा हेतु उच्च गुणवत्ता के नरों की उपलब्धता बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

3. उद्गम स्थल में क्षेत्र प्रदर्शन रिकार्डिंग ईकाईयों का निर्माण– क्षेत्र प्रदर्शन रिकार्डिंग डेरी पशुओं के विकास हेतु एक प्राथमिक आवश्यकता है। इसके अन्तर्गत दुग्ध उत्पादन एवं अन्य आवश्यक गुणों के आधार पर उच्च आनुवंशिक क्षमता के पशुओं की पहचान की जाएगी एवं इन्हें प्रसारित किया जायेगा। भा.कृ.अनु.प.– राष्ट्रीय पशु आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो द्वारा चिन्हित किए गायें नस्लों के उदगम स्थलों में सर्वप्रथम इस घटक को प्रारम्भ किया जायेगा। 50 ग्रामों एवं 5000 पशुओं पर एक केंद्र की स्थापना की जाएगी। रिकार्डिंग, पशु रिकार्डिंग की अंतर्राष्ट्रीय समिति के दिशा–निर्देशों के अन्तर्गत की जाएगी।

4. उच्च गुणवत्ता के जननद्रव्य वाली संस्थाओं की सहायता– उच्च गुणवत्ता के जननद्रव्य रखने वाले संस्थानों जैसे कि ट्रस्ट, गैर सरकारी संस्थाएं एवं गोशाला की सहायता की जाएगी जिससे की इन्हें प्रसारित करने में सहायता मिलेगी।

5. बड़ी आबादी वाली नस्लों के लिए चयन कार्यक्रम– बड़ी आबादी वाली देशज नस्लों के लिए वंशावली चयन कार्यक्रम का क्रियान्वयन किया जायेगा। जिसके कारण उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता के नरो के चयन में सहायता मिलेगी। यद्यपि नरों का चयन संतान परीक्षण विधि एवं वंशावली विधि दोनों के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु भारतीय परिपेक्ष में कृत्रिम गर्भाधान एवं देशज नस्लों की कम आबादी के कारण संतान परीक्षण विधि अव्यवहारिक प्रतीत होती है।

6. ब्रीडर सोसायटी की स्थापना– ब्रीडर सोसायटी का नस्लों के संरक्षण एवं विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। विश्व की अधिकांश नस्लों के विकास में ब्रीडर सोसायटी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वर्तमान समय में भारतवर्ष में बहुत ही कम ब्रीडर सोसायटी हैं। जैसे कि गुजरात में गिर एवं कांकरेज की ब्रीडर सोसायटी। अतः अन्य नस्लों हेतु इनकी स्थापना में सहायता की जाएगी एवं इन्हें गो पालन संघ के नाम से जाना जाएगा।

7. रोग प्रतिरोधी क्षमता के नरों का वितरण– रोग प्रतिरोधी उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता के नरों का वितरण किया जायेगा, जो कि प्राकृतिक क्रिया के लिए उपयोग किए जायेंगे तथा ये संक्रामक रोग जैसे कि टीवी, ब्रूसेला, जे. डी. एवं आई. बी. आर. से मुक्त होंगे।

8. उच्च गुणवत्ता के पशुपालकों को पुरुस्कार वितरण– उच्च आनुवंशिक गुणवत्ता के पशुओं के पालन को प्रोत्साहन हेतु निम्नलिखित पुरस्कारों का वितरण किया जायेगाः–

- **गोपाल रत्न–** यह पुरस्कार उन कृषकों के लिए है जोकि देशज नस्लों का सर्वश्रेष्ठ प्रबंधन करते हैं।
- **कामधेनु पुरस्कार–** यह पुरस्कार सर्वश्रेष्ठ प्रबंधन वाले ट्रस्ट, गैर सरकारी संस्थाओं, गोशाला एवं ब्रीडर सोसायटी को दिया जाएगा।

इसके अलावा दुग्ध उत्पादन प्रदर्शन प्रतियोगिता का आयोजन कर सर्वश्रेष्ठ पशुओं के मालिकों को भी प्रोत्साहन पुरुस्कार प्रदान किया जाएगा।

राष्ट्रीय गोकुल मिशन की क्रियान्वयन एजेंसी

यह कार्यक्रम राज्य क्रियान्यवयन संस्थाओं अर्थात् पशुधन विकास बोर्ड के माध्यम से संचालित किया जा रहा है, तथा राज्य गौशाला आयोग अन्य संस्थाओं जोकि देशज नस्लों के विकास से संबंधित हैं जैसे कि CFSPTI, CCBFs, ICAR एवं अन्य कृषि एवं पशुपालन विश्वविधालय उनके माध्यम से इस कार्यक्रम का क्रियान्वयन एवं निगरानी की जा रही है।

अनुदान यह कार्यक्रम 100 प्रतिशत अनुदान के आधार पर कार्यन्वित किया जा रहा है। 12वी पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 500 करोड़ रुपये आवंटित किये गये एवं वर्ष 2014–15 के लिए 150 करोड़ रुपए का प्रवधान किया गया है।

राष्ट्रीय कामधेनु प्रजनन केंद्र

भारतवर्ष विश्व की सबसे बड़ी गो जातीय आबादी धारण करता है। जिसमें की लगभग 191 मिलियन गायें एवं 108 मिलियन भैंसों की पशुसंख्या है। भारतवर्ष की लगभग 80 प्रतिशत गायों की संख्या अभी भी वर्णनातीत (नॉन डिस्क्रिप्ट) प्रकार की है एवं केवल 20 प्रतिशत को वर्तमान समय में पंजीकृत किया जा सका है। वर्तमान समय में गायों की 40 एवं भैंसों की 13 पंजीकृत नस्लें हैं। अतः देशज नस्लों के विकास एवं प्रसार के लिए एक केन्द्रीयकृत व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होती है, एवं इस केंद्र की सहायता से प्रमाणित, देशज नस्लों के जननद्रव्यों की आपूर्ति की जा सके जोकि इनके संरक्षण एवं प्रबंधन में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

उद्देश्यः–

1. गो जातीय देशज नस्लों को सुरक्षित एवं संरक्षित रखना।
2. गो जातीय देशज नस्लों के उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाना।
3. गो जातीय पशुओं की आनुवंशिक गुणवत्ता को उन्नत करना।
4. प्रमाणित उच्च गुणवत्ता के जननद्रव्य की आपूर्ति करना।
5. विलुप्त होने की कगार पर होने वाली नस्लों की सुरक्षा एवं पुनर्रोत्थान करना।

कार्यक्रम के घटक

1. मुख्य क्रियायें

- सभी गो जातीय नस्लों के विकास हेतु नाभिकीय झुंड की स्थापना करना।
- राज्यों में उत्कृष्ट वीर्य केन्द्रों की स्थापना करना।
- उच्च तकनीक से युक्त भ्रूण स्थानान्तरण प्रयोगशालाओं की स्थापना करना।

अन्य परिधीय क्रियायेंः–

- पशुचिकित्सा अस्पतालों को कृत्रिम गर्भाधान तकनीक से युक्त करना।
- चारा उत्पादन एवं साइलेज उत्पादन हेतु चारा क्षेत्रों का निर्माण करना।
- राष्ट्रीय संस्थानों के जैव–प्रौद्योगिकी विभाग की सहायता से देशज नस्लों की जीनोमिक एवं जीव विज्ञान जानकारी एकत्र करना।

- दुग्ध प्रसंस्करण एवं दुग्ध उत्पादन के लिए ईकाईयों की स्थापना करना।
- बायो गैस एवं हरित ऊर्जा के उत्पादन को बढ़ावा देना।
- औषधीय गुणों से युक्त गो मूत्र आसवन को बढ़ावा देना।
- कृषकों को उचित प्रशिक्षण प्रदान करना।

कार्य योजना

- राष्ट्रीय कामधेनु प्रजनन केन्द्रों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य समग्र एवं वैज्ञानिक विधियों की सहायता से देशज नस्लों का विकास, उन्नति एवं प्रसार करना।
- राष्ट्रीय कामधेनु प्रजनन केन्द्रों की स्थापना, पशुधन विकास बोर्ड, मिल्क फेडरेशन, राज्य पशुपालन विभाग एवं केन्द्रीय पशु प्रजनन केन्द्रों के द्वारा की जाएगी।
- प्रारम्भ में दो राष्ट्रीय कामधेनु प्रजनन केन्द्रों की स्थापना एक उत्तर भारत के लिए जोकि मध्य प्रदेश में प्रस्तावित है एवं एक दक्षिण भारत हेतु जोकि आंध्र प्रदेश में प्रस्तावित की जाएगी।
- प्रत्येक केंद्र में सभी 50 गो जातीय नस्लों (37 गाय एवं 13 भैंस) के नाभिकीय हर्ड स्थापित किये जायेंगे।
- प्रत्येक नस्ल के लगभग 20 उच्च गुणवत्ता के पशु स्थापित किए जायेंगे।
- नस्लों की शुद्धता को बनाये रखने के लिए उच्च आनुवंशिक योग्यता जो नरों के उपयोग द्वारा चयनात्मक प्रजनन विधि का प्रयोग किया जाएगा।
- हर्ड में आनुवंशिक विभिन्नता को बनाये रखने के लिए वार्षिक प्रति स्थापना का प्रयोग किया जाएगा।
- प्रमाणित उच्च कोटि के जननद्रव्य को कृषकों एवं अन्य संस्थाओं को उपलब्ध कराया जाएगा।
- राष्ट्रीय कामधेनु प्रजनन केंद्र उच्च कोटि के जननद्रव्य को निम्नलिखित रूपों में उपलब्ध करायेगा।
- वीर्य (हिमीकृत)
- भ्रूण (हिमीकृत)
- नर तथा मादा बछड़े
- वयस्क नर
- इन केन्द्रों के द्वारा उपरोक्त उच्च कोटि के जननद्रव्य का निर्यात भी किया जाएगा।
- इन केन्द्रों द्वारा उत्पादित जननद्रव्य, दुग्ध, दुग्ध उत्पाद एवं अन्य के विपणन के लिए केन्द्रों की स्थापना की जाएगी।
- आय तथा व्यय के अनुपात को बनाये रखने के लिए वित्तीय सहायता भी उपलब्ध कराई जाएगी।

अपेक्षित परिणाम

- देशज नस्लों विशेषकर विलुप्तप्राय नस्लों के संरक्षण में सहायता मिलेगी।
- उत्तम खाद्य एवं आनुवंशिक प्रबंधन के कारण पशुओं की उत्पादकता बढ़ेगी।
- देशज पशुओं की संख्या में वृद्वि होगी।
- प्रमाणित उच्च गुणवत्ता के जननद्रव्य की उपलब्धता बढ़ेगी जिससे अवर्णित पशुओं की उन्नति में सहायता मिलेगी।
- देशी नस्लों की उत्पादकता बढ़ाने के कारण ग्रामीण पशुपालकों की आय में वृद्धि होगी।

बदलते जलवायु परिवेश में कृषि की चुनौतियाँ

रिंकी, वनिता पाण्डेय एवं अनिल खिप्पल

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

भारत एक ऐसा कृषि प्रधान देश है जहाँ कृषि भी मानव सभ्यता के साथ साथ ही विकसित हुई है। इस विकास पथ पर इतने वर्षों की मेहनत के पश्चात् वर्तमान भारत **'खाद्य सुरक्षा'** में तो आत्मनिर्भर हो गया परन्तु बढ़ती जनसंख्या तथा घटते संसाधन भविष्य में एक नई चुनौती लिए खड़े हैं। इतना ही नहीं प्रकृति का बदलता हुआ रूप भी कृषि के क्षेत्र में प्रगति के लिए अनुकूल नहीं है। बढ़ता तापमान, बिन मौसम बरसात, मृदा की घटती उर्वरा क्षमता, भूमिगत जल की घटती गुणवत्ता, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि की चुनौतियों को बढ़ा रहे हैं हालांकि पर्यावरण का बदलता प्रारूप मनुष्य द्वारा किए गए औद्योगिकरण एवं शहरीकरण का ही परिणाम है। किन्तु निकट भविष्य में कृषि पद्धतियों में कुछ बदलाव करके हम कृषि के भविष्य को सुरक्षित कर सकते हैं।

जलवायु स्मार्ट (दक्ष) प्रजातियाँ

नवीन प्रौद्योगिकियाँ

\+ जलवायु स्मार्ट (दक्ष) मॉडल

फलों एवं सब्जियों की शेल्फ लाईफ को बढ़ाने वाली नवीन विधियाँ

खाद्य प्रौद्योगिकी में प्रगति

भारतीय कृषि

जलवायु परिवर्तन

घटती पैदावार

– सिमटते खेत

सीमित संसाधन

उन्नत गुणवत्ता के बीजों की कमी

चित्र : भारतीय कृषि की ताकत तथा चुनौतियाँ

कृषि की बदलती जरूरतें

1. बड़े किसानों के साथ–साथ छोटे किसानों को भी स्मार्ट (दक्ष) खेती की तकनीकों व विधियों को अपनाना चाहिए, ताकि खाद्य सुरक्षा के लिए जलवायु परिवर्तन का सामना आसानी से किया जा सके।
2. संसाधन कुशल प्रजातियों का प्रयोग ताकि कम लागत से अच्छी पैदावार ली जा सके।
3. उन्नत तकनीकों तथा शोध निष्कर्षों पर आधारित कृषि पद्धतियों का प्रयोग।
4. सिंचाई, उर्वरक इत्यादि का मृदा एवं जल परीक्षण के आधार पर प्रयोग।
5. समय–समय पर मौसम के पूर्वानुमान का आंकलन, जिससे संसाधनों का सटीक उपयोग किया जा सके।
6. खेती को पशुपालन व मछली पालन के साथ जोड़ा जाए ताकि घटती हुई कृषि योग्य भूमि का समुचित प्रयोग किया जा सके।

7. कृषि उत्पादों का प्रसंस्करण उद्योग से सीधा जुड़ाव ताकि कटाई पश्चात् होने वाली गुणवत्ता की हानि को कम किया जा सके।
8. पब्लिक प्राइवेट–पार्टनरशिप (सरकारी–निजी सहयोग) की सम्भावनाओं को तलाशना एवं उपयोग करना।
9. क्षेत्र की जलवायु के आधार पर कृषि प्रजातियों का चुनाव।
10. संरक्षित खेती को अपनाना ताकि संसाधनों को बचाने के साथ–साथ मृदा के स्वास्थ्य को भी बेहतर किया जा सके।
11. अंतर (अन्तः) फसल/बहुफसली कृषि भी बदलते जलवायु के प्रभावों को कम करने की अच्छी विधि है तथा इससे भूमि में पोषक तत्वों का संतुलन भी बना रहता है।
12. बंजर या कम उर्वरा शक्ति वाली भूमि को ऐसी फसलों के लिए प्रयोग करना जहाँ संसाधन प्रबंधन की अधिक आवश्यकता न हो।
13. अनुसंधान संस्थानों, कृषि विज्ञान केन्द्रों तथा राज्य स्तरीय कृषि अधिकारियों से नई प्रजातियों तथा नवीनतम तकनीकों का समय–समय पर किसानों द्वारा अवलोकन।
14. फसल की प्रकृति तथा आवश्यकता के अनुसार जैविक खेती को अपनाना।
15. रासायनिक कीटनाशकों के स्थान पर जैव नियंत्रण के तरीकों का इस्तेमाल।
16. फसल चक्रीकरण तथा कृषि वानिकी को अपनाना।
17. 'खेत पर भंडारण' की नई तकनीकों का उपयोग ताकि गुणवत्ता की हानि को कम किया जाए नवीनतम प्रौद्योगिकियों तथा वैज्ञानिकों के मार्गदर्शन को अपनाकर कई प्रगतिशील किसानों ने अपनी कृषि को सक्षम बनाकर जलवायु के परिवर्तनों को झेलते हुए भी सशक्त रूप से आगे बढ़ाया है। अतः आज के किसान को निःसंकोच होकर नई प्रौद्योगिकी तथा शोध खोजों पर आधारित कृषि पद्धतियों को अपनाना पड़ेगा तभी वह भविष्य में होने वाले जलवायु परिवर्तन में एक समर्थ किसान कहलाएंगे।

जलवायु परिवर्तन का कृषि पर प्रभाव : एक अवलोकन

राजेन्द्र कुमार, पंकज कुमार सिंह एवं जे. के. पाण्डेय

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल–132001

भारत एक कृषि प्रधान देश है। हमारे देश में करीब आधी से अधिक जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, परन्तु वैश्विक स्तर पर वतर्मान में सिर्फ एक समस्या कृषि पर ज्यादा हावी है और वह है जलवायु परिवर्तन। जलवायु परिवर्तन कृषि को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। कृषि पर जैविक और अजैविक दोनों ही कारकों का प्रभाव पड़ता है। कृषि पर तापमान परिवर्तन, नमी क्षेत्र में परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता है। वैश्विक तपन के बढ़ने से स्थिति और बदतर हो सकती है अर्थात् कृषि पूरी तरह से मौसम, जलवायु और पानी की उपलब्धता पर निर्भर होती है। कृषि और प्रकृति का एक दूसरे पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि प्राकृतिक आपदाओं से कृषि हमेशा ही प्रभावित होती आ रही है। बाढ़, सूखा, भूस्खलन जैसी आपदाओं से कृषि और किसान दोनों को ही भारी नुकसान से गुजरना पड़ा है। कई बार तो किसानों को भुखमरी से भी गुजरना पड़ा है परंतु आज चिंता इस बात की है कि इस तरह की आपदाएं प्रतिवर्ष और अपने भीषण स्वरुप में आ रही हैं। ऐसे में इनसे निपटने के उपाय ढूंढना हम सबके लिए नितांत आवश्यक हो गया है।

जलवायु परिवर्तन का बाढ़ की प्रवृत्ति पर प्रभाव

भारत में मौसम बदलाव के एक प्रमुख प्रभाव के रूप में बाढ़ को देखा जा सकता है। देश का बहुत बड़ा क्षेत्र बाढ़ की विभीषिका झेलता आ रहा है। ऐसे बदलाव के चलते कृषि, स्वास्थ्य, सामान्य जीवन आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और जान माल उत्पादकता आदि की क्षति का क्रम बढ़ा है, ऐसा नहीं है कि देश के लिए बाढ़ कोई नई बात है परन्तु मौसम में हो रहे बदलाव ने इस प्राकृतिक प्रक्रिया की तीव्रता के और उग्र कर दिया है और बाढ़ की भयावता आपदा के रूप में दिखाई दे रही है, तेज व त्वरित बाढ़ का आना, पानी का अधिक दिनों तक रुके रहना लंबे समय तक जल–भराव की समस्या सामने आ रही है।

जलवायु परिवर्तन का कृषि पर प्रभाव

कृषि क्षेत्र में जलवायु परिवर्तन के जो संभावित प्रभाव दिख रहे है वे आने वाले समय में ज्यादा दिखने वाले है वह मुख्यतः दो प्रकार के हैं; एक तो क्षेत्र आधारित और दूसरा फसल आधारित। गेहूँ और धान हमारे देश की प्रमुख खाद्य फसलें हैं। जिस पर देश की जनता का भूख से सीधा सम्बन्ध है। इस कारण हमें यह जानना अति आवश्यक है। वर्तमान में पूरी दुनिया पर जलवायु परिवर्तन का प्रभाव रहा है। यह प्रभाव अलग–अलग रूप में कहीं ज्यादा तो कहीं कम रहा है। जलवायु में होने वाला यह परिवर्तन ग्लेशियर व आक्रटिक क्षेत्रों से लेकर ऊश्ण कटिबंधीय क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा है। भारत को प्रभावित कर रहा है। भारत का कुल क्षेत्रफल करीब 32.44 करोड़ हैक्टर है जिसमें से करीब 14.26 करोड़ हैक्टर क्षेत्रफल में खेती की जाती है।

जलवायु परिवर्तन का बाढ़ की प्रवृति में प्रभाव

भारत का बहुत बड़ा क्षेत्र बाढ़ की विभीषिका झेलता आ रहा है। ऐसे बदलाव से कृषि के स्वास्थ्य, जीवनयापन, आदि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और जान माल उत्पादकता आदि की क्षति का क्रम बढ़ा है। ऐसा नहीं है कि बाढ़ कोई देश के लिए नई बात है, परंतु मौसम में हो रहे बदलाव ने इस प्राकृतिक प्रक्रिया की तीव्रता व स्वरुप को बदल दिया है। इसमें विशेषकर तेज व त्वरित बाढ़ का आना, पानी का अधिक दिनों तक रुके रहना तथा लंबे समय तक जल–जमाव की समस्या सामने आ रही है।

जलवायु परिवर्तन का सूखे पर प्रभाव

तापमान वृद्धि एवं वाष्पीकरण की दर तीव्र होने के कारण सूखाग्रस्त क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। मौसम बदलाव के चलते वर्षा असमय हो रही है और उसकी मात्रा में भारी कमी देखी गई है। बहुत से क्षेत्र जो उपजाऊ थे, आज वहाँ की भूमि बंजर हो गई है। वर्षा के वितरण पर भी प्रभाव हो रहा हैं।

जलवायु परिवर्तन का फसलों पर प्रभाव

- **गेहूँ के उत्पादन पर जलवायु परिवर्तन के प्रभावः** अध्ययनों में यह पाया गया है कि यदि तापमान 2 डिग्री सेंटीग्रेड के करीब बढ़ता है तो अधिकांश स्थानों पर गेहूँ की उत्पादकता में कमी आएगी। बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों में पानी फसलों को बहा ले जाता है। असमय वर्षा व आँधी तूफान से फसल के गिर जाने के कारण और जल भराव के कारण उत्पादन व उसकी गुणवत्ता पर सीधा प्रभाव पड़ता है।
- **धान के उत्पादन पर प्रभावः** हमारे देश में कुल फसल उत्पादन का 42.5 प्रतिशत हिस्सा धान का है। तापमान में वृद्धि के साथ साथ धान के उत्पादन में कमी आने लगेगी।

जलवायु परिवर्तन का मृदा पर प्रभाव

रासायनिक खादों के प्रयोग से मिट्टी पहले ही जैविक कार्बन रहित रही थी। अब तापमान बढ़ने से मिट्टी की नमी और कार्य क्षमता प्रभावित होगी। मृदा में लवणता बढ़ेगी और मृदा में स्थित जीवाणु भी हो सकते हैं तथा जैवविविधता घटती जाएगी। भूमिगत जलस्तर का गिरते जाना भी इसकी उर्वरता को प्रभावित करेगा।

जलवायु परिवर्तन का कीटों पर प्रभाव

जलवायु परिवर्तन से कीट व रोगों की बढ़त पर जबरदस्त प्रभाव पड़ता है। तापमान, नमी तथा वातावरण की गैसों, पौधों, फफूँद तथा अन्य रोगाणुओं के प्रजनन में वृद्धि तथा कीटों और उनमें प्राकृतिक शत्रुओं के अंतर सम्बंध में बदलाव आदि दुष्परिणाम देखने को मिलेंगे। गर्म जलवायु कीट–पतंगों की प्रजनन क्षमता में वृद्धि हेतु सहायक होती है। लंबे समय तक चलने वाले बसंत गर्मी व पतझड़ के मौसम में अनेक कीटों की प्रजनन संख्या अपना जीवन–चक्र पूरा करती हैं।

जलवायु परिवर्तन के प्रभाव को कम करने के कुछ अन्य उपाय

भारतीय कृषि पर जलवायु परिवर्तन से होने वाले प्रभावों को कम करने के लिए निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कदम उठाने होंगेः–

1. फसल उत्पादन हेतु नई तकनीकों का विकास

- फसलों के सुरक्षित व समुचित उत्पादन हेतु ऐसी किस्मों की खेती को बढ़ावा देना होगा जो नई फसल प्रणाली व नए मौसम के अनुकूल हों। इसके लिए ऐसी किस्मों को विकसित करना होगा जो अधिक तापमान, सूखा और खेत में पानी खड़े होने पर भी सफलतापूर्वक उत्पादन कर सकें।
- लवण और क्षार रोधी किस्मों को भी ईजाद करना होगा ताकि ऐसी समस्य ग्रस्त भूमि में भी अच्छा उत्पादन लिया जा सकें। अनेक पारम्परिक व प्राचीन प्रजातियाँ ऐसी मौजूद हैं, उन्हें ढूंढना होगा व उनका संरक्षण करना होगा।

2. सस्य विधियों में परिवर्तन

- नई फसल और नए मौसम के अनुसार हमें बुआई के समय में भी बदलाव लाने होंगे ताकि तापमान का प्रभाव कम हो। फसलों के कैलेंडर में कुछ बदलाव लाकर गर्म मौसम के प्रकोप से बचना व ठंड मौसम का अधिक उपयोग करना होगा।
- मिश्रित खेती व अतःफसलीकरण करके जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से कुछ हद तक निपटा जा सकता है।
- कृषि वानिकी अपनाकर जलवायु परिवर्तन के प्रभाव से बचा जा सकता है। यह केवल वातावरण में मौजूद कार्बन को सोखने के काम ही नहीं करेगी बल्कि इससे मिट्टी की उर्वरता बढ़ेगी व आर्थिक–सामाजिक लाभ भी प्राप्त होगा।
- संरक्षण कृषि जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से निपटने की यह प्रभावी तकनीकें हैं। जिनको अपनाने की आवश्यकता है।

3. खेतों में जल का संरक्षण

- तापमान वृद्धि के साथ–साथ धरती पर मौजूद जल कम होता जाएगा। ऐसे में खेती में नमी का संरक्षण करना और वर्षा जल को एकत्र कर सिंचाई हेतु उपयोग में लाना आवश्यक होगा।
- जीरो टिलेज या शून्य जुताई जैसी तकनीकों का इस्तेमाल कर पानी के अभाव से निपटा जा सकता है। शून्य जुताई के कारण धान और गेहूँ की खेती में पानी की बचत होती है जबकि उपज में बढ़ोत्तरी होती है और उत्पादन लागत कम हो जाता है। इससे मिट्टी में जैविक पदार्थों की बढ़ोत्तरी भी होती है।

जलवायु परिवर्तन एवं गेहूँ के स्पॉट ब्लॉच रोग

पंकज कुमार सिंह, साहिल परुथी, महेन्द्र कुमार आर्य एवं डी. पी. सिंह

फसल सुरक्षा अनुभाग, भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

देश में लगभग 31 मिलियन हैक्टर भूमि मे गेहूँ की खेती की जाती है। विश्व में भारत की जनसख्या का दूसरा स्थान होने के कारण देश मे अत्यधिक खाद्यान्न फसलों के उत्पादन की आवश्कता है। अतः यह जानकारी आवश्यक है कि फसल की किस अवस्था में रोग आने की आशंका है तथा इसके रोकथाम के लिए कौन सी तकनीक अपनायी जाये। यदि सही वक्त पर सही तकनीक को अपनाया नहीं गया तो भयानक परिणाम हो सकते हैं इसलिए किसान को रोग की सही जानकारी होना आवश्यक है।

परिचय

गेहूँ में बहुत सी बिमारियाँ लगती हैं। उनमें से स्पॉट ब्लॉच एक भयावह रोग है इसे फोलियर ब्लाइट कहते हैं। यह एक फफूंद के कारण होने वाला रोग हैं। यह रोग विश्व के अधिकतर गेहूँ उत्पादक देशों में होता है। यह भारत में मध्यवर्ती क्षेत्रों तथा हरियाणा एवं पंजाब में गेहूँ की फसल को प्रभावित करता है।

रोग का प्रकोप

देश के नमी वाले क्षेत्रों में इस रोग का प्रकोप देखा गया है। मगर पृथ्वी के बढ़ते तापमान के कारण यह रोग उत्तरी भारत में गेहूँ की फसल को प्रभावित कर रहा है। यह उत्तरी भारत में गेहूँ–धान उत्पादन क्षेत्र को प्रभावित करता है।

रोग का प्रसार

यह ज्यादातर रोग गर्म व नमी वाले क्षेत्र दखाई देता है। इस रोग का प्रकोप उत्तरी भारत में देखने को मिलता है जहाँ पर गेहूँ–धान फसल–चक्र को अपनाया जाता है। इस रोग के प्रसार की विधि स्पष्ट नहीं हैं। मगर अनुमान हैं कि यह रोग संक्रमित बीज तथा मृदा के कारण होता है।

रोग के लक्षण

स्पॉट ब्लॉच के लक्षण पौधे के हर भाग पर पाये जाते हैं। प्रारंभ में 1 से 2 मि.मी. के स्पॉट दिखाई देते हैं जो कि हरिमा हीनता (पत्तियों के हरे रंग का कम होना) से घिरा न होता है। लेकिन जब यह परिपक्व हो जाते हैं तो वह हरिमा हीनता से घिर जाते हैं। यह स्पॉट लम्बे से गोलाकार आकार के हो सकते हैं मगर जब वह परिपक्व हो जाते हैं तो मध्य में हल्का भूरा से टैन रंग हो जाता है और यह अनियमित भूरा छल्लानुमा आकृति बन जाती है। यह स्पॉट फैल कर एक–दूसरे के साथ मिल जाते है इसके परिणामस्वरुप पत्ती नष्ट हो जाती है।

रोग के पहचान का तरीका

- इस रोग की पहचान पत्तियों पर आने वाले अनियमित अण्डाकार स्पॉट सरलता से किया जा सकता है।
- यह स्पॉट हल्के भूरे से गहरे भूरे हो जाते हैं।
- स्पॉट के परिपक्व होने के बाद भूरे रंग की छल्लेनुमा आकृति बन जाती है।
- बाद में यह स्पॉट फैलकर आपस में मिल जाते हैं।

रोग से हानि

- इस रोग से संक्रमित पत्तियाँ भूरी एवं पीली पड़कर सुख जाती है। जिससे प्रकाश संश्लेशण की दर प्रभावित होती है।
- इस रोग के प्रकोप से गेहूँ की बालियाँ मुरझा जाती हैं जिससे बालियों में दाने कम बनते हैं और उपज कम हो जाती है।
- यह रोग 2 से 100 प्रतिशत तक फसल को नुकसान पहुँचा सकता है।
- यह रोग पिछेती फसल को अधिक नुकसान पहुँचाते हैं।

उपचार

जैविक उपचार

- हाल के एक अध्यन ये पाया गया कि चिटोमियम ग्लोबसम का प्रयोग करके स्पॉट ब्लॉच को नियंत्रित कर सकते हैं। यह एक एस्कोमाईसीटिज कवक है जो मृदा तथा बीज के पादप रोगजनक के लिए प्रयोग लाया जाता है।

रासायनिक उपचार

- गेहूँ की फसल में स्पॉट ब्लॉच का लक्षण दिखाई दे तो किसान तुरन्त प्रोपिकोनाजोल 1 प्रतिशत का छिड़काव करना चाहिए।
- थाइरम के 0.3 प्रतिशत घोल से गेहूँ के बीज को उपचारित करके इस रोग को नियंत्रण किया जा सकता है।

सस्य उपचारः– पोटाशियम डाई ऑक्साईड की अगेती फसल बुआई करनी चाहिए।

- स्पॉट ब्लॉच प्रभावित इलाके में गेहूँ–चावल फसल चक्र नहीं अपनाना चाहिए।
- पोटाशियम डाई ऑक्साईड की कमी होने पर यह रोग अधिक नुकसान कर सकता है। इसलिए समय–समय पर इसकी उचित मात्रा में छिड़काव करना चाहिए ।
- रोगरोधी बीज का प्रयोग करें।
- समय–समय पर खेत से खतपतवार को उखाड़ते रहना चाहिए।

अन्य उपचार

सर्वेक्षण एवम् निगरानीः– स्पॉट ब्लॉच से बचाव के लिए समय–समय पर सर्वेक्षण एवम् निगरानी करते रहना चाहिए।

विचार–विमर्शः– स्पॉट ब्लॉच के संदेह होने पर किसानों को कृषि वैज्ञानिक या पौध रोग विशेषज्ञ से विचार–विमर्श करें।

बदलती जलवायु में कृषि करना हुआ मुश्किल

साहिल परूथी [1], महेन्द्र कुमार आर्य [2], पंकज कुमार सिंह [3], एवं डॉ. डी. पी. सिंह [4]

फसल सुरक्षा अनुभाग, भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

परिचय

भारत में विभिन्न प्रदेशों में अलग अलग प्रकार की जलवायु पायी जाती है। जलवायु विभिन्न प्रदेशों मे विभिन्न प्रकार होती है। यह विभिन्न मानक जैसे तापमान आर्द्रता, वर्षा तथा वायु पर निर्भर करता है। दक्षिण भारत में उष्ण तथा उत्तर भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में शीतोष्ण जलवायु पाई जाती है। थार रेगिस्तान में बहुत कम वर्षा होती है जबकि दक्षिण राज्यों में नमी का मौसम पूरे वर्ष बना रहता है।

जलवायु परिवर्तन आज के समय में पूरे विश्व के लिए एक बडी चुनौती बन चुकी है भारत में हर साल जलवायु परिवर्तन के कारण विभिन्न खाद्य फसलों की हानि हुई है जो भुखमरी का कारण बनती जा रही है।

कृषि में जलवायु का महत्त्व

अलग–अलग फसल उगाने के लिए अलग–अलग जलवायु की आवश्यकता पडती है। यदि फसल को उचित जलवायु प्राप्त नहीं होगी तो वह उग नहीं पायेगी जैसे गेहूँ को शीत जलवायु की आवश्यकता होती है तथा चावल को आर्द्र व उष्ण जलवायु की आवश्यकता होती है। यदि इन फसलों को यह जलवायु प्राप्त नहीं होगी तो वह उग नहीं पायेगी। मगर मानव की विभिन्न अप्राकृतिक क्रियाओं के कारण विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु में परिर्वतन आया है। जो उस क्षेत्र की प्रमुख फसलों के लिये खतरा बन कर उभरी है।

जलवायु परिवर्तन के प्रमुख कारण

- **ग्रीन हाउस गैसों का उर्त्सजन**

ग्रीन हाउस गैस के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है। ग्रीन हाउस गैसों में कार्बन–डाई–ऑक्साईड, सल्फर डाई ऑक्साईड, ओजोन आदि गैंसें शामिल हैं। ये गैसें मानवकृत यंत्रों तथा फैक्टरी से निकलती है। ये गैसें पृथ्वी का तापमान बढ़ाती है। जिससे रबी की फसल पर खतरा मंडरा रहा है। वैज्ञानिकों के अनुसार ऐसी फसल को उगाना कठिन होगा जो शीतोष्ण क्षेत्रों में उगाई जाती है।

- **जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई**

बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भवनों, उद्योगों तथा सड़कों का निर्माण किया जा रहा है जिसके कारण जंगलों की अंधाधुन्ध कटाई की जा रही है। जो जलवायु परिर्वतन का कारण बन गया है। जंगल ऑक्सीजन तथा कार्बन–डाई–ऑक्साईड की सान्र्द्रता पृथ्वी पर बनाये रखते हैं तथा तापमान को बढ़ने नहीं देते हैं। जंगलों की कटाई से बेमौसमी बरसात होने लगी है जिनसे रबी व खरीफ की फसलों पर प्रभाव पड़ा है।

जलवायु परिवर्तन का कृषि पर प्रभावः

कार्बन डाई ऑक्साईड की सान्र्द्रता का बढ़नाः वैज्ञानिकों ने यह आंकलन किया है कि कार्बन–डाई–ऑक्साईड की सान्द्रता पृथ्वी पर बढ़ती जा रही है जिससे पौधों की प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया प्रभावित हो रही है। जिनसे दलहनी फसलों में प्रकाश संश्लेषण की दर में वृद्धि हुई है लेकिन दलहनी फसलों को असीमित मात्रा में नमी प्राप्त हो।

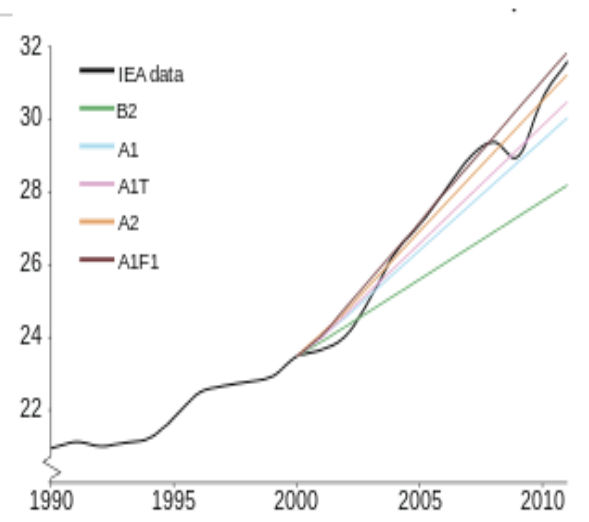

co2 की दर

वर्ष

CO_2 की दर प्रतिवर्ष

स्रोत–चांग, जे. एच. (1987), इंडियन समर मानसून भौगोलिक समीक्षा 57

तापमान का बढ़ना

ग्रीन हाउस गैस के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है जिससे रबी की फसल पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। गेहूँ की फसल पर मुख्य रूप से प्रभाव पड़ेगा क्योंकि गेहूँ को वृद्धि करने के लिए उचित तापमान चाहिए होता है। यदि उसे वह तापमान न मिले तो वृद्धि नहीं हो सकती है।

फसल	दृश्यलेख	प्रक्षेपण
चावल	20 डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा 1.5^0 डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा. 2 एम एम बरसात बढ़ी. 460 पी पी एम कार्बन डाई ऑक्साईड	–0.06 – 0.075 टन / हैक्टर +12 प्रतिशत दक्षिण भारत में
गेहूँ	20 डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा. 425 पी पी एम कार्बन डाई ऑक्साईड	–1.5 – 5.8 प्रतिशत उपोषण भारत में –17–18 प्रतिशत उष्ण भारत में –10 प्रतिशत पंजाब, हरियाणा में
मक्का	20 डिग्री सेंटीग्रेड बढ़ा. 425 पी पी एम कार्बन डाई ऑक्साईड	–7–12 प्रतिशत उत्तरी भारत में

बेमौसमी बरसात

जंगलों की कटाई तथा बढ़ते तापमान के कारण जल चक्र तथा मौसम में परिर्वतन आया है जिसके कारण बेमौसमी बरसात होती है भारत जैसे देश में इसका प्रमुख प्रभाव देखने को मिला है यहाँ पर किसान बरसात के

जल पर निर्भर रहते है इसका प्रभाव मुख्य तौर से खरीफ पर पड़ा है क्योंकि खरीफ की फसल को बरसात के जल की आवश्यकता होती है। लेकिन समय पर बरसात नहीं होने के कारण खरीफ की फसल पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं तथा रबी की फसल में सही समय पर बरसात नहीं होने से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

फसलों पर सूखे के प्रभाव

बाढ़ से क्षतिग्रस्त फसल

सुझाव

- अधिक से अधिक वृक्ष लगाये जाए तथा जंगलों की कटाई पर रोक लगाई जाये।
- ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन वाले मानवीय क्रिया–कलापों पर रोक लगाई जाये।
- जलवायु परिवर्तन से होने वाले हानि का अध्ययन किया जाये तथा इन हानियों से उभरने की नई युक्तियाँ सोची जाये।

संरक्षण खेती में मल्चिंग का महत्व

अंकित कुमार, सुनील कुमार, दीपक एवं सेंथिल आर.

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसंधान संस्थान, करनाल

आधुनिक एवं वैज्ञानिक खेती का उद्देश्य किसानों को कम खर्च पर अधिक आय प्रदान करना है। इसके लिए कुछ ऐसी उन्नतशील आधुनिक विधियों से कृषि की जाए जो किसानों को कम खर्च में अधिक आय प्रदान कर सके। इन्हीं आधुनिक तरीकों में से एक मल्चिंग विधि है। जो संरक्षण कृषि का महत्त्वपूर्ण घटक है। मल्चिंग, नमी संरक्षण, खरपतवार नियंत्रण, मृदा क्षरण में कमी, मृदा में कार्बनिक पदार्थों को बढ़ावा देना। लाभदायक कीटों एवं शुक्ष्म जीवों को संरक्षण इत्यादि महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। मल्चिंग फसल अवशेष, पेड़ों की पत्तियाँ, प्लास्टिक सीट इत्यादि से की जा सकती है। इसमें किसानों की प्रारम्भिक श्रम तो होता है। परंतु इससे उत्पादन में 30 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। मल्चिंग से जहाँ एक तरफ उत्पादन अधिक होता है वहीं पानी भी बहुत कम लगता है। मल्चिंग का प्रयोग गेहूँ, गन्ने, अधिकतर सब्जियाँ/फल जैसे, करैला, टमाटर, सेम, मिर्च, पपीता, नारियल, तरोई आदि की फसलें ली जा सकती है।

प्लास्टिक मल्च

इतना ही नहीं मल्चिंग का प्रयोग फूलों (गेंदा, गुलाब) की खेती में भी की जाती है। जिससे 75 प्रतिशत तक सिंचाई जल बचाया जा सकता है और अधिकतम आय प्राप्त की जा सकती है। लेकिन खेत में प्लास्टिक शीट ठंडे वक्त सुबह या शाम को ही बिछानी चाहिए। शीट को ज्यादा खींचना नहीं चाहिए ताकि पोलीथिन शीट फटे ना सिंचाई नाली का ध्यान में रखते हुए इसमें छेद करना चाहिए। जो किसान सब्जियों की खेती कर रहे हैं वे पहले खेत की जुताई करें। उसके बाद खेत में खाद डालें फिर खेतों में क्यारियाँ बनाकर ड्रिप सिंचाई की पाईप बिछा दें। पाईपों के दोनों छोरो को मिट्टी से दबा दें ताकि वे अपनी जगह से नहीं हटे। इसके बाद पौधों से पौधों की दूरी के हिसाब से इसमें छेद करें। इन छेदों में बीज/पौधे लगा दें। शीट को पौधों के चारों ओर बिछा दें।

मल्चिंग में अवशेष और अन्य संचन उत्पाद जैसे, पुआल, पत्ते और बुरादे का भी प्रयोग किया जा सकता है।

गौरतलब है कि बूंद–बूंद प्लास्टिक मल्चिंग पद्धति की सबसे पहले शुरूआत इजराइल देश में हुई थी। भारतीय किसानों इजराइल में जाकर इस विधि का प्रशिक्षण लेकर भारत में इसको प्रोत्साहित किया। मल्चिंग पद्धति से खेती करने से यह 60–65 प्रतिशत तक उत्पादन में बढ़ोत्तरी करती है। कृषि में मल्चिंग एक सामान्य शब्द है। साधारणतः मल्चिंग एक मृदा की ऊपरी सतह पर सुरक्षित परत है। जो जलवायु परिवर्तन से फसलों को सुरक्षित करके अच्छे अकुंरण में सहायक है। मल्चिंग खेती से निम्नलिखित लाभ हैः

- मल्चिंग गर्म व सर्द मौसम के समय मृदा तापमान को बनाये रखता है।
- मल्चिंग मृदा से नमी का वाष्पीकरण को कम करता है तथा मृदा में नमी को लंबे समय तक बनाए रखता है।

- मल्चिंग मृदा के कटाव को रोकने में सहायक है।
- मल्चिंग मृदा में नाइट्रोजन को स्थिर करने में मददगार है। मल्चिंग जल को जड़ क्षेत्र में संरक्षित रखती है।
- मल्चिंग मृदा में कार्बनिक पदार्थ तथा मृदा खनिज को पौधों के लिए अत्यधिक उपयोगी बनाता है।
- मल्चिंग खरपतवार को जड़ क्षेत्र से हटाता है तथा खरपतवार को जमने नहीं देता है।
- मल्चिंग ठोस मृदा सतह से फसलों को बचाता है।
- मल्चिंग से मृदा भुर–भुरी होती है जो पौधा के अच्छी तरह से विकसित होने में मदद करता है।
- किसानों की निराई गुड़ाई तथा खरपतवारनाशी के छिड़काव होने वाले खर्च में बचत होती है।

मल्चिंग को खेती में अपनाकर किसान अधिक उत्पादन ले सकता है और साथ ही आय में बढ़ोत्तरी कर सकता है। मल्चिंग खेती द्वारा भूमि की जैविक शक्ति को भी बल मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि मल्चिंग आधुनिक खेती व मृदा स्वास्थ्य के लिए एक सशक्त विकल्प है।

बदलते जलवायु में गेहूँ के पोषण प्रबंधन की समस्याएँ एवं समाधान

सुभाष चन्द्र गिल, राजेन्द्र छोकर, राजपाल मीणा, एस. सी. त्रिपाठी, कैलाश प्रजापत, ममता काजला, विकास जून एवं आर. के. शर्मा

भा.कृ.अनु.प.–भारतीय गेहूँ एवं जौ अनुसन्धान संस्थान, करनाल– 132001

गेहूँ भारत की मुख्य खाद्यान्न फसल है. यह फसल लगभग तीन करोड़ हेक्टेयर क्षेत्रफल में बोई जाती है और इसका उत्पादन लगभग 9.5 करोड़ टन के आस पास पहुँच गया है। हरित क्रांति (1965–66) के पहले भारत में इस फसल में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग बहुत ही कम मात्रा में होता था। बल्कि ऐसा कहें कि नगण्य था तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। परन्तु हरित क्रांति के दौरान मैक्सिको देश से लाई गई गेहूँ की उन्नत प्रजातियों के प्रयोग से इस फसल में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग तेजी से बढ़ा और आज भारत में कुल रासायनिक उर्वरकों पोषक तत्वों के प्रयोग का 35–40 प्रतिशत हिस्सा अकेले इसी फसल में उपयोग किया जाता है। बदलते जलवायु में जहाँ एक ओर तापमान में वृद्धि होने के संकेत मिल रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पानी के संसाधनों पर भी शहरीकरण एवं औद्योगीकरण के कारण, दबाव बढ़ता जा रहा है। इसलिए आने वाले समय में गेहूँ की फसल को तापमान वृद्धि के साथ साथ नमी की कमी का भी सामना करना पड़ सकता है। अतः हमें पोषण प्रबंधन करते समय इन सभी पहलुओं पर विशेष नजर रखनी होगी। वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार उत्तर पश्चिमी मैदानी क्षेत्रों में गेहूँ में पोषण प्रबंधन निम्न प्रकार से है;

गेहूँ मे पोषक तत्व प्रबंधन

मुख्य पोषक तत्वो की मात्रा की आवश्यकता विभिन्न स्थिति व क्षेत्रों के अनुरूप सारणी 1 में दी गई है। गेहूँ में नाइट्रोजन पोषक तत्व सबसे अधिक मात्रा मे प्रयोग होता है तथा इसकी कमी लगभग सभी गेहूँ उगाने वाले क्षेत्रों मे पाई जाती है। प्रायः किसान भाई मुख्यतः नाइट्रोजन एवं फास्फोरस का ही प्रयोग करते हैं। लेकिन कुछ क्षेत्रों में गंधक, जस्ता, मैगनीज एवं बोरान की भी कमी पाई गई है। ऐसे क्षेत्रों में इन तत्वों का प्रयोग मृदा परीक्षण अनुरुप करना लाभदायक होगा। बुआई के समय एक कट्टा (50 कि. ग्रा.) डी. ए. पी. व 25 कि. ग्रा. यूरिया प्रति एकड़ का प्रयोग करें। पोटाश की कमी वाली भूमि में 25 कि.ग्रा. एम.ओ.पी. प्रति एकड़ का प्रयोग करें। नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश की संतुलित मात्रा देने के लिए एन.पी.के. मिश्रण (12: 32: 16) को 75 कि.ग्रा./एकड़ बिजाई के साथ ड्रील करें। इससे संतुलित पोषक तत्वों के साथ–साथ इनको खुड़ों में बीज से 2–3 से. मी. गहराई पर डाला जा सकता है। जिससे इनका असर अच्छा रहता है। इस मिश्रण से कुछ मात्रा नत्रजन की तथा पूरी मात्रा फास्फोरस व पोटाश मिल जाएगी। शेष नत्रजन की मात्रा पहली व दूसरी सिंचाई पर दें। यदि धान में जिंक सलफेट नहीं डाला हो तो गेहूँ में 10 कि.ग्रा./एकड़ जिंक सलफेट भी डाल दें।

बेहतर होगा कि समेकित पोषक तत्व प्रबन्धन किया जाए। जिसमें फसल अवशेष, हरी खाद, गोबर की खाद एवं कम्पोस्ट खादो को उर्वरकों के साथ प्रयोग किया जाता है। दलहन फसलों के बाद बोई गई गेहूँ में नत्रजन की मात्रा सारणी में दी गई मात्रा से 25 प्रतिशत कम डालें। भूमि में उर्वरता तथा जीवांश पदार्थ बनाएं रखने के लिए 4–6 टन/एकड़ की दर से गोबर की अच्छी तरह से सड़ी–गली खाद प्रयोग में लाएं।

सारणी 1: भारत की विभिन्न स्थिति व क्षेत्रों में गेहूँ में उर्वरक प्रबंधन

क्षेत्र	बिजाई का समय व उत्पादन स्थिति	उर्वरको की मात्रा
उत्तर–पश्चिमी मैदानी क्षेत्र उत्तर– पूर्वी मैदानी क्षेत्र	समय से, सिंचित अवस्था	60:24:16 कि.ग्रा./एकड नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश 1/3 नाइट्रोजन, तथा पूरी मात्रा फास्फोरस व पोटाश बुआई के समय शेष नत्रजन दो बराबर भाग में पहली व दूसरी सिंचाई पर
	देर से, सिंचित अवस्था	48:24:16 कि.ग्रा./एकड नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश 1/3 नाइट्रोजन, तथा पूरी मात्रा फास्फोरस व पोटाश बुआई के समय शेष नत्रजन दो बराबर भाग में पहली व दूसरी सिंचाई पर
	असिंचित अवस्था	24:12:8 कि.ग्रा./एकड नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश पूरी नाइट्रोजन, फास्फोरस व पोटाश बुआई के समय
	लवणीय व असिंचित कल्लर भूमि	60:24:16 कि.ग्रा./एकड नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटाश 1/3 नाइट्रोजन, तथा पूरी मात्रा फास्फोरस व पोटाश बुआई के समय शेष नत्रजन दो बराबर भाग में पहली व दूसरी सिंचाई पर

गेहूँ में पोषण प्रबंधन हेतु कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

1. वर्तमान में उच्च उपज देने वाली किस्मों (एच. डी. 2967, एच. डी. 3086, डब्ल्यू. एच. 1105, इत्यादि) में पोषण प्रबंधन हेतु क्रमशः 60, 24 एवं 16 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश की मात्रा की सिफारिश की जाती है।
2. नाइट्रोजन को तीन बराबर बराबर हिस्सों (एक तिहाई बिजाई के समय, एक तिहाई पहली सिंचाई पर अर्थात् 20 से 25 दिन बाद एवं एक तिहाई दूसरी सिंचाई पर अर्थात् 40 से 45 दिन बाद) में डालने से अधिक उत्पादकता पाई जा सकती है।
3. फास्फोरस एवं पोटाश की सिफारिश की गई पूरी मात्रा बिजाई के समय या तो ड्रिल कर दें या छिड़क कर मिट्टी में मिला दें। सिफारिश की गई पोटाश की मात्रा जरूर डालें।
4. यूरिया को बीज के साथ न मिलाएँ क्योंकि यूरिया से अंकुरित होते हुए बीजों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे अंकुरण प्रतिशत घट सकता है जिसके कारण खेत में पौधों की संख्या कम हो जाती है।
5. बिजाई के समय डाले जाने वाले रासायनिक उर्वरकों को बीज से कम से कम तीन से पांच सेंटीमीटर नीचे ज्यादा गहराई पर डालें ताकि अंकुरण प्रभावित न हो और जड़ों को पोषक तत्व आसानी से मिल सकें।
6. रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग करते समय ध्यान रखें कि खेत में गेहूँ से पहले कौन सी फसल ली गई थी और उस फसल में कितना देसी खाद (गोबर खाद) या हरी खाद डाली गई थी। यदि गेहूँ से पूर्व फसल में उपरोक्त खादों का इस्तेमाल किया गया है तो रासायनिक उर्वरकों की मात्रा कम कर दें।
7. यदि गेहूँ से पूर्व दलहन फसल ली गई है तो नाइट्रोजन की मात्रा सिफारिश की गई मात्रा से 25 प्रतिशत कम डालें। यदि गेहूँ से पहले धान कीई फसल ली गई है और उसकी पराली उसी खेत कि मिटटी

में मिला दी गई है या सतह पर ही रख ली है तो नाइट्रोजन की मात्रा सिफारिश की गई मात्रा से 25 प्रतिशत अधिक डालें ताकि पराली के गलने सड़ने का विपरीत प्रभाव गेहूँ की फसल पर न पड़े।

8. देसी खाद में 0.5 प्रतिशत नाइट्रोजन की मात्रा पाई जाती है। यदि देसी खाद 4 से 6 टन प्रति एकड़ डाला है तो नाइट्रोजन की मात्रा सिफारिश की गई मात्रा से 25 प्रतिशत कम डालें।

9. धान की पराली अगर खेत की मिटटी में मिली गई है तो उसी समय खेत में 20 से 25 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति एकड़ कि दर से दाल कर सिंचाई कर दें। इससे पराली बहुत जल्दी ही गल–सड़ जाएगी और पराली डालने का कोई विपरीत प्रभाव गेहूँ पर नहीं पड़ेगा।

10. बारानी इलाकों में यदि गेहूँ बिजाई की जाती है तो रासायनिक उर्वरकों की सिफारिश की गई पूरी मात्रा बिजाई के समय ही डाल दें।

11. अगर सिंचाई का पानी कम है तो तीन से पांच प्रतिशत यूरिया का घोल छिड़ककर भी गेहूँ का अधिक उत्पादन लिया जा सकता है।

12. खड़ी फसल में यूरिया का छिडकाव करते वक्त ध्यान रखें की फसल की पत्तियों पर ओस या नमी तो नहीं है अन्यथा यूरिया पत्तियों पर चिपक जाएगा और पत्तियाँ झुलस जाएगी। इसलिए यूरिया का छिड़काव दोपहर बाद करें। धुंध में भी यूरिया का छिड़काव अन्यथा पत्तियों पर जलने के निशान आ सकते हैं।

13. यदि हरी खाद तैयार करते वक्त फास्फोरस की निर्धारित मात्रा डाली गई है तो गेहूँ में फास्फोरस डालने की जरुरत नहीं रहती।

14. यदि गेहूँ से पहले आलू की फसल ली गई है तो गेहूँ में फास्फोरस एवं पोटाश की मात्रा डालने से बचा जा सकता है। क्योंकि आलू में इनका प्रयोग बहुत होता है एवं बचा हुआ हिस्सा गेहूँ फसल के लिए पर्याप्त होता है।

15. कई बार दिसम्बर जनवरी के महीनों में अधिक सर्दी या धुंध के कारण गेहूँ कि पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं। इस परिस्थिति को देख कर किसानों को ज्यादा मात्रा में नाइट्रोजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि मौसम खुलने के साथ ही यह समस्या अपने आप हल हो जाती है।

16. रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग मिटटी की जाँच के आधार पर ही किया जाना चाहिए। यदि मिटटी में पोषक तत्वों की उपलब्धता कम है तो सारिणी 1 में बताए अनुसार रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग करें। अगर मिट्टी में पोषक तत्वों कि उपलब्धता माध्यम या उच्च मात्रा में है तो रासायनिक उर्वरकों की मात्रा कम की जा सकती है।

सारिणी 2. मिटटी में उपलब्ध पोषक तत्वों की मात्रा के क्रांतिक मान

क्र. सं.	पोषक तत्व/गुण	कम	मध्यम	उच्च
1	जैव कार्बन, %	<0.40	0.40–0.75	0.75
2	पीएच मान	<6.5	6.5–8.7	>8.7
3	विद्युत चालकता, डेसी साइमन/मी.	<0.8	0.8–2.5	>2.5
4	उपलब्ध नाइट्रोजन, कि.ग्रा/है.	<280	280–560	>560
5	उपलब्ध फॉस्फोरस, कि. ग्रा./है.	<10	10–25	>25
6	उपलब्ध पोटैशियम, कि. ग्रा/है	<120	120–280	>280

7	उपलब्ध सल्फर, कि. ग्रा./है.	<20	20–40	>40
8	उपलब्ध जिंक, मि.ग्रा./कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	<1.0	1.0–3.0	>3.0
9	उपलब्ध आयरन (Fe), मि.ग्रा./कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	<4.5	4.5–9.0	>9.0
10	उपलब्ध मैंगनीज (Mn), मि.ग्रा/कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	<1.0	1.0–2.0	>2.0
11	उपलब्ध ताम्बा (Cu), मि.ग्रा./कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	<0.2	0.2–1.0	>1.0
12	उपलब्ध बोरोन (B), मि.ग्रा./कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	0.5	0.5–1.0	>1.0
13	उपलब्ध मोलिब्दिनम (Mo), मि.ग्रा./कि.ग्रा. (पी. पी. एम.)	0.01	0.01–0.05	>0.05

हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश एवं राजस्थान के लिये गेहूँ फसल के लिये रासायनिक उर्वरकों की अनुसंशित मात्रा नीचे दी गई हैं:–

- नाइट्रोजन 60 कि. ग्रा./एकड़ की दर से तीन बराबर भागों (एक तिहाई बीजाई के समय, एक तिहाई पहली सिंचाई पर यानी 21–25 बीजाई के बाद और एक तिहाई दूसरी सिंचाई पर यानी 40–45 बीजाई के बाद) में गेहूं फसल में दे।
- फॉस्फोरस की पूरी मात्रा यानी 24 कि. ग्रा./एकड़ की दर से बीजाई के समय डालें।
- पोटैशियम की पूरी मात्रा यानी 16 कि. ग्रा./एकड़ (25 कि.ग्रा. म्यूरेट ऑफ पोटाश) की दर से बीजाई के समय डालें।
- सल्फर एवं सूक्ष्म तत्वों को आवश्कता अनुसार यदि कमी हो तो ही डाले।
- यदि जिंक की कमी हो तो जिंक सल्फेट 10 कि. ग्रा./एकड़ की दर से बीजाई के समय डालें।
- यदि लौह तत्व की कमी हो तो आयरन सल्फेट 10 कि. ग्रा./एकड़ की दर से बीजाई के समय डालें।
- यदि मैंगनीज तत्व की कमी हो तो मैंगनीज सल्फेट 10 कि. ग्रा./एकड़ की दर से बीजाई के समय डालें।
- यदि ताम्बा तत्व की कमी हो तो कॉपर सल्फेट 10 कि. ग्रा./एकड़ की दर से बीजाई के समय डालें।
- उपरोक्त सभी सूक्ष्म तत्वों वाले पदार्थ सल्फर से भी भरपूर होते हैं, इसलिये अलग से सल्फर डालने की आवश्यकता नहीं होती है।
- यदि सूक्ष्म पोषक तत्वों को बिजाई पर न डाला गया हो और फसल में उनकी कमी दिखाई दें तो उपरोक्त सभी सूक्ष्म तत्वों वाले पदार्थों का 0.5 का घोल बनाकर 35 एवं 55 दिन बिजाई उपरान्त स्प्रे करें।

बदलते पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में गन्ना कीट प्रबंधन

एस. के. पाण्डेय एवं प्रवीण कुमार

प्रधान वैज्ञानिक (कीट विज्ञान) गन्ना प्रजनन संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र करनाल

आर्थिक दृष्टिकोण से गन्ना एक नकदी फसल है जिसकी खेती से किसानो को अन्य फसलों की तुलना में अधिक लाभ संभावित है/गन्ना प्रजनन संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र, करनाल की गन्ना प्रजातियाँ जैसे को 0118, को. 0238, को. 0237, को 98014 (अगेती किस्में) एवं को 0124 एवं को 05011 (सामान्य वर्ग) आदि प्रमुख हें जिनकी उपज काफी अच्छी है तथा चीनी का परता भी सराहनीय है। गन्ने की बिजाई वर्ष में दो बार की जाती है (15 अक्तूबर से 15 नवम्बर एवं 15 फरवरी से 15 मार्च तक)/परन्तु गेहूँ की कटाई के बाद भी किसान भाई गन्ने बिजाई करने लगे हैं। गन्ने की बिजाई के समय 200 कुन्तल गोबर की सड़ी खाद तदोपरांत 50 किलोग्राम डी. ए. पी., 33 किलोग्राम पोटाश एवं तीन बार 50–50 किलोग्राम यूरिया की टॉप ड्रेसिंग कर अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है। गन्ने के एक या दो आँख वाले बीज टुकड़ों को कार्बेन्डाजिम 50% घुलनशील चूर्ण एक ग्राम प्रति लीटर पानी में 10–15 मिनट तक डुबोकर लगायें। इन सारी कृषि क्रियाओ के उपरांत कीट प्रबंधन अति आवश्यक है अन्यथा सारी मेहनत पर पानी फिर जाने की आशंका को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। अतः वर्तमान परिवेश में पर्यावरण/पर्यावरण में लगातार हो रहे जलवायु परिवर्तन के फलस्वरूप कृषि पर इसका सीधा असर देखा जा रहा है। खेती के अजैविक एवं जैविक दोनों प्रमुख कारक प्रभावित हो रहे हैं। जैविक कारकों में गन्ने के हानिकारक तथा लाभदायक जीवो के जीवन चक्र में असामान्यता के साथ साथ इनकी सामंजस्यता में भी असमानता देखी जा रही है। जिन हानिकारक कीटो का प्रभाव गौड़ था वे प्रमुख कीटों का स्तर प्राप्त कर रहे हैं तो आईये प्रस्तुत आलेख के माध्यम से गन्ने के प्रमुख कीटों एवं उनके समुचित प्रबंधन के बारे में जानें।

प्रारम्भिक प्ररोह छिद्रक यह छिद्रक गन्ना फसल की प्रारम्भिक अवस्था में, पोरी बनने के पूर्व उस पर आक्रमण करता है यदि जलवायु अनुकूल बनी रहे तो इसके बाद भी सक्रिय रहता है। मादा कीट पत्तियों के नीचे चमकीले श्वेत रंग का अण्डा एकल में देती है। अण्डों से निकलकर, इसके पहले और दूसरे निरूप के लार्वे, गन्ने के पर्णच्छद के उपरी भाग को खाकर पलते हैं, परन्तु इसके तीसरे निरूप का लार्वा तने में घुसकर 7–8 दिनों में गन्ना के वृद्धि बिन्दु को नष्ट कर देता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ, 'मृत स्थान' बन जाता है और पौधे का बाढ़ स्थल नष्ट हो जाता है एवं बीच की पत्ती सूख जाती है जिसे 'मृत–स्थान' या डेड हर्ट कहते हैं। आक्रान्त पौधों के डेड हर्ट खींचने पर आसानी से निकल आते हैं और इनमें दुर्गन्ध आती है।

प्रबंधन

- इस छिद्रक कीट से बचने के लिए गन्ने की बुवाई देर से नही करनी चाहिए। गन्ने बीज को 24–48 घंटे तक पानी में डुबोकर रखें फिर बुवाई करें जिससे इनमें मौजूद लार्वे मर जाते हैं। गन्ने की रोप गहरी कूड़ों में करनी चाहिए। मई–जून में दो–तीन बार हल्की गुड़ाई करने के बाद सिंचाई करना लाभप्रद रहता है। खेत तथा मेड़ों को खरपतवार मुक्त रखें। जल्दी जल्दी सिंचाई करे।
- गन्ने की प्रथम पत्ती को तोड़कर अलग कर देना चाहिए। डेड हर्ट को 3–4 से.मी. गहराई से काटकर नष्ट कर दें। आक्रान्त प्ररोहों के डेड हर्ट को खींच कर 'मृत स्थान' में विद्यमान लार्वे को साइकिल की तिल्ली या तार के टुकड़े को घुसाकर मार दें।
- गन्ने की रोप के 45 दिन बाद प्ररोह छिद्रक के अण्ड परजीवी कीट ट्रायकोग्रामा किलोनिस की 50,000 संख्या प्रति हेक्टेयर की दर से, 4–6 बार दस दिनों के अन्तराल पर खेत में छोड़ें। ग्रेनुलोसिस वाइरस

67 एल.ई. प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में छिड़काव कर देने से प्ररोह छिद्रक के लार्वे बीमार पड़कर मर जाते हैं।

- बिजाई के समय खुडढ़ो में पड़े बीजों पर 2 ली0 क्लोरपायरीफास 20 ई. सी. तरल को 400 लीटर पानी में घोल बनाकर प्रति एकड़ डालें । आवश्यकता पड़ने पर 2 ली0 क्लोरपायरीफास प्रति एकड़ की दर से गोंद में छिड़काव करें।

चोटी बेधक: चोटी बेधक के प्रौढ़ सफेद रंग के पतंगे होते हैं। मादा कीट के पीछे नारंगी रंग की रोयेंदार सरंचना होती है। मादा कीट गन्ने की पत्तियों के निचली सतह पर 200–250 अण्डे देकर भूरे रंग के पदार्थ से ढक देती है अण्डों से निकलकर सूड़ियां पत्तियों की मध्य नाड़ी में प्रवेश कर पौधों की गोभ तक चली जाती है। गन्ना में पोरियां बनने से पहले चोटी बेधक के प्रकोप से ग्रसित पौधों की गोभ कानी हो जाती है, पत्तियों में छर्रे लगे जैसे छिद्र पाये जाते हैं। जुलाई से सितम्बर के महीनों में जब पोरियों का निमार्ण हो जाता है उस समय ग्रसित गन्नों की गोभ कानी होनेके साथ–साथ उपर की पोरियों की आखें फुटाव कर जाती है जिसके कारण अगोलों का झुण्ड सा बन जाता है जिसे आसानी से पहचाना जा सकता है।

प्रबंधन

- ठीक समय पर उचित मात्रा में उर्वरक देने से गन्ना फसल शीर्ष छिद्रक के आक्रमण का सामना करने में सक्षम हो जाती है। सिंचित फसल में शीर्ष छिद्रक के शलभ आकर्षित होते हैं अतः हल्की सिंचाई करना चाहिए, जल जमाव की स्थिति में अधिक क्षति पायी गयी है। नत्रजनीय उर्वरकों की अधिक मात्रा भी इस कीट को आकर्षित करती है।
- फसल की आरम्भिक अवस्थाओं में शीर्ष छिद्रक के शलभों तथा अण्ड समूहों को पौधों की पत्तियों से एकत्रित करके नष्ट करना तथा प्रभावित प्ररोहों को गन्ने बनने से पूर्व पौधों से काटकर नष्ट करना, शीर्ष छिद्रक के आपात के नियंत्रण में सहायक होते हैं।
- चोटी बेधक के लार्वा का कीट परजीवी आइसोटिमा जैवोंसिस के प्रौढ़ की 2000 संख्या प्रति हेक्टेयर की दर से जुलाई के प्रथम सप्ताह से अगस्त माह तक 30 दिनों के अन्तराल पर खेत में छोड़ने से अच्छे परिणाम निकलते हैं।
- जून के अनतिम सप्ताह में 15 प्रतिशत से अधिक हानि होने कीदशा में 13 कि.ग्रा. कार्बोफयूरान 3 प्रतिशत दानेदार/एकड य खुडढों के साथ–2 डालकर सिंचाई कर दें। या कोराजेन कीटनाशी की 150 एमएल प्रति एकड की दर से मई माह में 300 लीटर पानी में घोल बनाकर हजारा की सहायता से गिराकर गन्ना की जड़ों को तर करें।

स्तम्भ छिद्रक– गन्ना फसल की प्रारम्भिक अवस्था में तना छिद्रक का आक्रमण होने पर 'मृत कलिका' बना देते हैं और ऐसे प्ररोह सूख जाते हैं। परिपक्व गन्ना में इसके आक्रमण से उसकी पोरियों को क्षति पहुंचती है और गन्ना के रस गुण में गिरावट आती है। अण्डों से निकलने के लगभग एक सप्ताह पश्चात् इसके लार्वे गन्ने की पोरी में छिद्र बनाकर उसमें घुस जाते हैं। एक गन्ना पर 6–8 लार्वे देखे जा सकते हैं और पूरी गन्ना छिद्रित पायी जा सकती है। इस छिद्रक का लार्वा एक पोरी को छेदने के पश्चात् वहां से निकलकर दूसरी पोरी को छेदने लगते हैं। कभी–कभी तो ये छिद्रक गन्ना को बेधते–बेधते उसके भूमिगत ठूंठ तक पहुंच जाते हैं। खेत में छोड़े गये प्ररोहों तथा ठूंठों के माध्यम से आपात अगली फसल में भी हो जाता है।

प्रबंधन

- गन्ने की बीज सामग्री स्वस्थ फसल से लेनी चाहिए। छिद्रयुक्त गन्ना को बीज के रूप में इस्तेमाल नही करना चाहिए। स्तम्भ छिद्रक से ग्रसित फसल की पेड़ी नही रखनी चाहिए यदि पेड़ी फसल रखनी ही हो तो फरवरी–मार्च में हुए प्रस्फुटन को खेत की सतह तक दो बार काट देना चाहिए।
- गन्ने की फसल की कटाई के पश्चात् गन्ने के ठूंठ, जल प्ररोह आदि को उखाड़ कर खेत से हटा देना चाहिए। यदि पेड़ी फसल रखनी ही हो तो फरवरी–मार्च में हुए प्रस्फुटन को खेत की सतह तक दो बार काट देना चाहिए। गन्ना के खेत के आसपास उगे ऐसे पौधों को जिन पर यह छिद्रक पल सकता है उखाड़ कर नष्ट कर देना चाहिए। एच.एम.टी. प्लांट द्वारा गर्म जल में बीज शोधित कर रोप करनी चाहिए। सितम्बर में पौधों से सूखी पत्तियां देर से निकले प्ररोह आदि को उखाड़कर खेत से हटा देना चाहिए।
- स्तम्भ छिद्रक कीट के अण्ड परजीवी, ट्रायकोग्रामा किलोनिस की 50,000 संख्या प्रति हेक्टेयर की दर से जुलाई माह से फसल में छोड़ना प्रारम्भ कर दें तथा सितम्बर माह तक लगातार दस दिन के अन्तराल पर छोड़ते रहें। इसके लार्वा परजीवी कोटेशिया फ्लेविप्स की 2000 संख्या प्रति माह की दर से खेत में छोड़ना चाहिए।
- इस कीट का प्रसार मुख्य रूप से बीजों के माध्यम से होता है अतः पेस्ट एक्ट के नियमों का पालन करें इस कीट से ग्रसित खेतों से गन्ना बीज न लें और ना ही एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में ले जायें।

जड़ छिद्रकः इस कीट के लार्वे मक्खियाँ सफेद रंग के होते हैं। इनके शरीर पर झुर्रियां दिखाई देती हैं। परन्तु धारियां नही होती हैं सिर पीलापन लिए भूरे रंग का होता है। जड़ छिद्रक की यह प्रजाति भूमि के अन्दर तने के भागों को क्षति पहुंचाती है। अतः जैसा कि इसका नाम है यह वास्तविक रूप में जड़ों को क्षति नही पहुंचाता है। अंकुरण के समय इसके प्रकोप को बड़ी सुगमता से पहचाना जा सकता है। इस समय ग्रसित पौधों की मध्य गोफ सूख जाती है परन्तु वर्षा में जब गन्ना के पौधे कड़े हो जाते हैं, तब इस कीट द्वारा ग्रसित पौधों को, आक्रमण के बाहरी लक्षणों से नही पहचाना जा सकता है। इस जड़ छिद्रक द्वारा ग्रसित अंकुरों की लीफशीथ खींची जा सकती है। जिसके अन्दर लार्वे द्वारा क्षति के निशान मिलते हैं तथा दुर्गन्ध नही आती है। जड़ छिद्रक की मादा, गन्ने के तने पर और कभी–कभी पत्तियों की मध्य शिरा पर अण्डे देती है। अण्डे से निकलकर इसका लार्वा नीचे की ओर जाता है और भूमितल से लगभग 5 सेंमी. नीचे पहुंचकर गन्ने के प्ररोह में घुसकर उसके जड़ क्षेत्र को क्षतिग्रस्त कर देता है। जिसके फलस्वरूप प्ररोह कमजोर पड़ जाते हैं यदि उसे जोर से खींचकर भूमि से निकाला जाए, तो साथ में इस छिद्रक के लार्वा भी बाहर निकल आते हैं अथवा भूमि में स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। इस छिद्रक से ग्रस्त गन्ने के प्ररोह की सबसे उपर की एक या दो पत्तियां सूख जाती हैं, परन्तु विकसित गन्ना को उखाड़े बिना इसके आपात का पता नहीं लगता।

प्रबंधन

- इस छिद्रक कीट से बचने के लिए गन्ने की बुवाइदेर से नहीं करनी चाहिए। गन्ने बीज को 24–48 घंटे तक पानी में डुबोकर रखें फिर बुवाई करें जिससे इनमें मौजूद लार्वे मर जाते हैं। गन्ने की रोप गहरी कूड़ों में करनी चाहिए।
- मई–जून में दो–तीन बार हल्की गुड़ाई करने के बाद सिंचाई करना लाभप्रद रहता है। खेत तथा मेड़ों को खरपतवार मुक्त रखें। जल्दी जल्दी सिंचाई करे।
- प्रभावित पौधों को साप्ताहिक अन्तराल पर जड़ सहित उखाड़कर नष्ट कर देना चाहिए।

- जिस फसल की पेड़ी रखनी हो उन गन्नों को गहराई से काटना चाहिए। खेत में पड़ी गन्ने के जड़ों को खोदकर नष्ट कर देना चाहिए।
- गन्ना की रोपनी के 45 दिन बाद जड़ छिद्रक के अण्ड परजीवी कीट ट्रायकोग्रामा किलोनिस की 50,000 संख्या प्रति हेक्टेयर कीदर से, 4–6 बार दस दिनों के अन्तराल पर खेत में छोड़े।
- गन्ना रोप के समय 2 लीटर क्लोरपायरीफास 20 ई.सी. तरल कीटनाशी को 3500 लीटर पानी में घोल बनाकर कूड़ों में बिछाए गए बीजो पर प्रति एकड की दर से हजारा की सहायता से गिराकर मिट्टी द्वारा ढक देने से जड़ छिद्रक द्वारा क्षति की संभावना घट जाती है। अगस्त माह में पुनः 2 लीटर क्लोरपायरीफास 20 ई.सी. तरल कीटनाशी को 3500 लीटर पानी में घोल बनाकर हजारा की सहायता से गिराकर गन्ना की जड़ों को तर कर दें।

पायरिलाः पायरिला के बालकीट (निम्फ) व वयस्क, दोनों ही गन्ने की पत्तियों की निचली सतह से कोशिका रस चूसते रहते हैं। पत्ती के इन स्थानों पर पीलापन लिए सफेद धब्बे बन जाते हैं। ऐसे अनेकों धब्बे पड़ जाने से पत्ती पीली सी दिखाई पड़ती है और धीरे–धीरे वह वास्तव में पीली पड़कर मुरझा जाती है और अंततः सूख जाती है। यह नाशी कीट अपने मुखांगों से मीठा व चिपचिपा रस उगलता रहता है जिसे ''मधु स्त्राव'' या मधु ओस कहते हैं। यह रस, प्रभावित पत्तियों से नीचे की पत्तियों की उपरी सतह पर गिरता है जिसके उपर एक प्रकार का कवक तेजी से विकसित होने लगता है और वह स्थान इस कवक की काली परत से ढक जाता है तथा पौधे के विकास में अवरोध आता है गन्ने की विकसित फसल में इसके आक्रमण से उसके रस गुण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ऐसे गन्ने से शर्करा प्राप्ति कम होती है, और इसके रस का गुड़ भी घटिया किस्म का बनता है।

प्रबंधन

- नत्रजनीय उर्वरकों का कम प्रयोग करना चाहिए।
- वर्षा काल से पूर्व (फरवरी से जून तक) पत्तियाँ जिन पर आमतौर से पायरिला के अंड समूह विद्यमान होते हैं, पौधों से अलग कर जला देनी चाहिए।
- प्राकृतिक रूप से भी परजीवियों तथा परभक्षियों द्वारा पायरिला का जैविक नियंत्रण होते रहता है। टेट्रास्टिकस पायरिली, इपिरिकेनिया मेलानोल्यूका इसके प्रभावशाली प्राकृतिक शत्रु कीट हैं। टेट्रास्टिकस, पायरिला के अंडे का परजीवी हैं और पिरिकेनिया मेलानोल्यूकाइसनाशिकीट के बाल कीट और वयस्क का शिकार करता है। जिन खेतों में इपिरिकेनिया मेंलानोल्यूका की संख्या अधिक हो उनमें से इन्हें निकालकर उन खेतों में छोड़े जिनमें इनकी संख्या कम है।
- जिन क्षेत्रों में पायरिला द्वारा अधिक क्षति की जा रही हो और कीटनाशी रसायनों का प्रयोग जरूरी हो गया हो तो निम्नलिखित कीटनाशक रसायनों में से किसी एक का प्रयोग करना चाहिए। फास्फेमिडान 85 ई.सी. की 1/2 मि.ली. या डायमेथेएट की 1 मि.ली. मात्रा प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर फसल पर छिड़काव कर पायरिला पर नियंत्रण किया जा सकता है।

सफेद मक्खी

यह एकअति कोमल, सूक्ष्म, धुंधले रंग की पंखदार मक्खी होती है। मादा मक्खी गन्ने की पत्तियों पर अण्डे देती है। इन अण्डों से पीले रंग के शिशु निकलते हैं। जो पत्तियों पर अवस्थित होकर पत्तियों से लगातार रस चूसते हैं। धीरे–धीरे इनका रंग बदल कर भूरा हो जाता है। कुछ समय पश्चात ये शिशु वहीं पर प्यूपावस्था को प्राप्त होकर पत्तियों पर काले–2 धब्बों के रूप में मौजूद होते है। सफेद मक्खी के शिशु गन्ने की पत्तियों पर अवस्थित

होकर लगातार रस चूसते रहते हैं जिससे पत्तियाँ पोली पड़ने लगती है। इस कीट से ग्रसित फसल दूर से ही गुलाबी पीली दिखाई देती है।

प्रबंधन

- फसल के रोप में विलम्ब नहीं करना चाहिए।जल जमाव वाले खेतों में पेड़ी फसल नही लेनी चाहिए। मुख्य फसल व पेड़ी फसलों मे नत्रजनीय उर्वरक समुचित मात्रा में देने चाहिए। जल निकास की व्यवस्था करनी चाहिए।
- प्रारम्भिक हल्के व स्थानीय आपात की दशा में, संक्रमित पत्तियों को तत्काल काट कर जला देना चाहिए।
- फास्फेमिडान 85 ई. सी. की आधा मि.ली. या डायमेथोएट 30 ई. सी. की एक मि.ली. प्रति ली. पानी में घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

काली कीड़ी

काली कीड़ी के बालकीट व प्रौढ़, गन्ने के पत्ती चक्र तथा पर्णच्छदों में घुसकर गन्ना का कोशिका रस चूसते हैं। इनका आपात, गन्ना की पेड़ीफसल की प्रारम्भिक अवस्था में अधिक होता है। इनसे आक्रांत फसल पीली पड़ जाती है और पत्तियों पर लालिमामय धब्बे दिखाई देते हैं। इस कीट के भीषण प्रकोप की दशा में पत्तियों के सिरे तथा किनारे सूखने लगते हैं और पौधे मुरझाने लगते हैं। इस कीट की उपस्थिति का अहसास इनके द्वारा छोड़ी गयी गंध विशेष द्वारा हो जाता है। मार्च–अप्रैल माह में इस कीट से अधिक क्षति पायी गयी है। सुखाण की दशा में इनका प्रकोप सितम्बर–अक्तूबर तक भी पाया गया है।

प्रबंधन

- मार्च–अप्रैल में, जब पेड़ी फसल के नये प्ररोहों में कीट अधिक संख्या में पाये जाएं तो फसल के ठूंठों को जलाकर उन्हें नष्ट किया जा सकता है। अप्रैल माह में पौधों में लगी पत्तियों को हटा देना चाहिए।
- काली कीड़ी के नियंत्रण के लिए डाइक्लोरवास 85 ई.सी. 0.5 मि.मी. प्रति ली. पानी में घोल बना कर प्रभावित फसल पर छिड़काव करें। चूंकि यह गन्ने के पर्णच्छदों में एकत्रित रहते हैं अतः कीटनाशी का छिड़काव इस तरह करना चाहिए कि दवा का घोल पर्णच्छद में पड़े तथा पूरा पौधा भींग जाय।

अष्टपदी– अष्टपदी आठ पैरों वाले यह कीट तो नहीं है परन्तु कीटों से मिलते जुलते हैं और इन्दी की भांति फसलों को हानि पहुंचाते हैं। प्रौढ़ अष्टपदी अत्यन्त सूक्ष्म प्रायः बिन्दु के आकार की पंखविहीन होती है। इनका रंग हल्का लाल, कत्थई या पीला होता है जो पत्तियों की निचली सतह पर जालों के भीतर समूह में रहती है। अष्टपदी के प्रोढ़ तथा शिशु दोनो ही रस चूसकर क्षति करते हैं। ग्रसित पत्तियों पर लाल धब्बों की धारियां बन जाती हैं अधिक तापमान की अवस्था में पूरी पत्ती लाल पड़ जाती है। मार्च, अप्रैल तथा अक्तूबर माह में इनके लिए सर्वाधिक क्षति की जाती है। उच्च तापमान तथा निम्न आर्द्रता तथा सूखाग्रस्त मौसम काफी अनुकूल पाया गया है।

प्रबंधनः लाल मकड़ी से ग्रसित पत्तियों को पौधो से अलग कर नष्ट कर दें। 400 मि.ली डायमेथोएट 30 ई.सी 400 लीटर पानी में घोलकर प्रति एकड की दर से छिड़काव कर दें।

दीमकः दीमक, भूमि में रोपित गन्ने के बीजों पर केवल दोनों छोरों से ही नही बल्कि उनकी आखों व छिलके के माध्यम से भी आक्रमण करते हैं। यह बीजों को पूरी तरह से खा कर समाप्त कर देते हैं केवल उसके उपर का कड़ा छिलका ही बचा रहता है जिनमें मिट्टी भरी होती है। दीमक द्वारा जो आंखे क्षतिग्रस्त हो जाती है, उनमें अंकुरण नहीं होता और जिन शेष आँखों में अंकुरण होता भी है तो उनमें प्ररोह नही बन पाते तथा जो

प्ररोह निकलते हैं वे स्वस्थ नहीं होते। इसके अतिरिक्त दीमक गन्ने के नवीन पौधों की जड़ों को भी कुतर देते हैं। दीमक के प्रकोप से प्रभावित पौधों की बाहरी पत्तियाँ पहले सूखना प्रारंभ कर देती है। ऐसे पौधे, खींचने से तुरन्त आसानी से जमीन से उखड़ जाते हैं। वर्षा काल के पश्चात् दीमक विकसित पौधों की जड़ों पर आक्रमण करते हैं और सुरंग बनाकर उन्हें खाते जाते हैं। ऐसे गन्ने के पौधे अंदर से खोखले हो जाते हैं और उनमें मिट्टी सी भर जाती है। इन गन्नों का केवल छिलका ही बचा रह जाता है। जो वायु के हल्के झोंके से ही टूटकर गिर जाते हैं तथा पत्तियां भी सूख जाती है।

प्रबंधन

- दीमक की रानी को खोदकर निकालिए और उनकी कालोनी को नष्ट कर दीजिए। जो कार्बनिक खादें भली प्रकार सड़कर तैयार न की गयी हैं उन्हें खेत में मत डालिए। गन्ना रोप के पूर्व खेत की अन्तिम जुताई के समय नीम की खल्ली का व्यवहार करें। मानसून की पहली वर्षा के तत्काल बाद, पंख वाली दीमक का झुंड प्रकाश के चारों ओर मंडराते दिखाई देते हैं। ऐसे स्थानों के नीचे किसी चौड़े मुंह के बरतन में किरासन तेल तथा पानी 1:15 के अनुपात में मिलाकर रखने से दीमक पानी में गिरकर मर जाते हैं। खाली पड़े खेतों से पूर्व फसल के अवशेषों को इकट्ठा कर जला देना चाहिए। दीमक प्रभावित गन्ना फसल की सिंचाई करते रहने से ये जमीन के नीचे चले जाते हैं जिसके फलस्वरूप क्षति कम हो जाती है।
- दीमक की रोकथाम के लिए गन्ना रोप के समय 2 लीटर क्लोरपायरीफास 20 ई.सी. तरल कीटनाशी को 3500 लीटर पानी में घोल बनाकर कूड़ों में बिछाई गयी बीजो पर हजारा की सहायता से गिराकर मिट्टी द्वारा ढक देना चाहिए।

सफेद ग्रब

सफेद ग्रब के प्रौढ़ भृंग, भूरे रंग के होते है। प्रौढ़ भृंग रात्रि में झाड़ियों, वृक्षों की टहनियों आदि पर एकत्रित हो जाते हैं और उन्ही की पत्तियाँ आदि खाकर पलते हैं। अभी तक प्रौढ़ कीट गन्ना फसल को हानि पहुंचाते नही पाये गये हैं। इसके बाल कीट, लार्वे, जिनको ग्रब कहते हैं, सफेद रंग के होते हैं। इसलिए इसके सफेद ग्रब के नाम से जाना जाता है। ग्रब की शरीर झुर्रीदार होती है। सिर काले रंग तथा मुखांग काटने चबाने वाले होते है। इसके वक्ष से तीन जोड़ी टांगे स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यह ग्रब हमेशा अर्ध चन्द्राकार या अंग्रेजी अक्षर 'सी' के आकार में प्रतीत होता है। मानसून के प्रथम वर्षा की रात इसके नर–मादा जमीन से निकलकर आपस में मैथुन क्रिया करते हैं तथा वृक्षों की पत्तियों को खाते हैं। इस नाशीकीट की मादा, भूमितल से 5–10 से.मी. की गहराई पर अण्डे देती हैं। जिनसे 7–10 दिन में ग्रब निकलते है और तुरन्त ही पौधों की जड़ें खाना शुरू कर देते हैं। जुलाई–सितम्बर के दौरान, इनका अधिकतम आपात रहता है। लार्वावस्था 8–10 सप्ताह तक रहती है। पूर्ण विकसित ग्रब, प्यूपावस्था प्राप्त करने के लिए, भूमि में नीचे की ओर जाना शुरू कर देते हैं। और सितम्बर–अक्टूबर में प्यूपावस्था को प्राप्त होते हैं। सितम्बर के आखिरी सप्ताह से, इनसे वयस्क भृंग निकलने लगते हैं। सफेद ग्रब के लार्वे भूमि के नीचे गन्ना की छोटी–छोटी नाजुक जड़ों को खाकर पलते हैं। ये नाशीकीट, गन्ना फसल को जुलाई–सितम्बर के दौरान अधिकतम हानि पहुँचाते है। कभी–कभी ये गन्ना के भूमिगत भाग को क्षति ग्रस्त कर देते हैं। तीव्र आपात की स्थिति में सफेद ग्रब सारे जड़ तन्त्र को छिन्न–भिन्न कर देते हैं जिसके फलस्वरूप गन्ना के पौधें को भूमि से भोजन मिलना बन्द हो जाता है और कालान्तर में वह सूख जाता है।

प्रबंधन

बसन्तकालीन गन्ना की रोप शुरू में ही कर देना चाहिए, जिससे जून–जुलाई तक गन्ना के पौधों के जड़ तन्त्र, काफी विकसित हो चुके होते हैं जो ग्रब के आक्रमण को सहन कर सकते हैं।

मानसून के प्रथम वर्षा की रात में सफेद ग्रब के प्रौढ़ झाड़ियों फल वृक्षों तथा फूल के पौधों पर एकत्रित होकर पत्तियों को खाते हैं। इसके प्रौढ़ कीट प्रकाश पर आकर्षित होते हैं जिन्हें प्रकाश प्रपंच लगाकर मार सकते हैं। इसके लिए झाड़ियों, वृक्षों आदि की शाखाओं को अंकुसी ही सहायता से हिलाकर प्रौढ़ कीटों को भूमि पर गिराकर हाथों से इकट्ठा कर, फिर मिट्टी तेल मिले पानी में डालकर नष्ट कर देना चाहिए, ताकि उनकी अगली पीढ़ी उत्पन्न होने का खतरा टल जाय। इस कार्यक्रम को अभियान के रूप में एक साथ करना चाहिए।

बेसिलस पॉपिली नामक जीवाणु सफेद ग्रब में "मिल्की डिजीज" पैदाकर देते हैं जिससे ग्रब बीमार होकर मर जाते हैं। अतः इस जीवाणु की 500 ग्राम मात्रा प्रति है. की दर से खेत में प्रयोग किया जा सकता है। मेटारिजियम एनासोप्ली नामक फफूंद द्वारा भी इसका जैविक नियंत्रण हो जाता है। अतः इस फफूंद के स्पोर को 0.05 प्रतिशत मात्रा सैण्डोविट नामक चिपकने वाले पदार्थ में मिलाकर प्रयोग किया जा सकता है।

- गर्मी की प्रथम वर्षा के बाद गन्ना के खेतों के आसपास पाए जाने वाले पेड़ों पर एमिडाक्लोप्रिड कीटनाशी की आधी मिली मात्र प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर छिडकाव करने से रात में पेड़ो पर आने वाले प्रौढ़ कीट मर जाते है जिसके फलस्वरूप इनकी नयी पीढ़ी समाप्त हो जाती है/गन्ने की खड़ी फसल में क्लोथियानिडीन 50% दानेदार कीटनाशी की 100 ग्राम मात्र 400 लीटर पानी में घोल बनाकर जुलाई माह में गन्ना पौधों की जड़ों में डाल कर सिंचाई करें।

भाकृअनुप
ICAR

हर कदम, हर डगर
किसानों का हमसफर
भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद

Agrisearch with a human touch